हिन्दी आलोचना के विकास में विजय देव नारायण साही का योगदान

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि
हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

निर्देशिका
प्रो० मालती तिवारी
एम० ए०, डी फिल्
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्ता
धारवेन्द्र प्रताप त्रिपाठी
एम० ए० हिन्दी
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2002

भूमिका

हिन्दी आलोचना के इतिहास में बीसवी शताब्दी के पॉचवें दशक के आस–पास कवि–आलोचक विजय देव नारायण साही का आविर्भाव होता है। लेकिन हिन्दी जगत में उन्हें एक कवि के रूप मे ही प्रतिष्ठा प्राप्त है, आलोचक के रूप में कम। इधर एक साहित्यिक पत्रिका ने 'हिन्दी आलोचना' के सौ वर्षों को विश्लेषित करते हुए उन्हें भले ही हिन्दी आलोचना के नव–रत्नों में स्थान दिया हो लेकिन पूरा का पूरा हिन्दी जगत साही के आलोचनात्मक अवदानों को लेकर प्रायः मौन ही है। साही के 'कविता–कर्म' को लेकर तो काफी कुछ लिखा गया है, विश्वविद्यालयों में उनके कवि व्यक्तित्व को लेकर कई शोध भी हुए हैं और निरन्तर हो रहे हैं लेकिन उनके आलोचनात्मक–कर्म को लेकर स्फुट लेखन के अलावा कोई ठोस कार्य सामने नही आ पाया है।

साही का व्यक्तित्व बहुमुखी है। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन–अध्यापन, सोशलिस्ट पार्टी के जुझारू एवं कर्मठ कार्यकर्ता होने के साथ–साथ वे नई कविता के कवि, नई समीक्षा के आलोचक, 'आलोचना' तथा 'नई कविता' पत्रिका के सहयोगी सम्पादक रहे हैं। लेकिन प्रस्तुत 'शोध प्रबन्ध' में विजय देव नारायण साही के आलोचना कर्म को रेखांकित करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

"हिन्दी आलोचना के विकास में विजय देव नारायण साही का योगदान" विषयक इस शोध प्रबन्ध को कुल छः अध्यायों में विभाजित किया गया है। पहले अध्याय में साही पूर्व हिन्दी आलोचना को रेखांकित किया गया है। भारतेन्दु–युगीन पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी आलोचना विकसित हुई और द्विवेदी युग में हिन्दी आलोचना पुष्ट होती हुई दो धाराओं में विभक्त हो गयी। पहली धारा जिसके अन्तर्गत महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके समान विचार के आलोचक हैं तो दूसरी धारा तुलनात्मक समीक्षा की रही है, जिसमें मिश्र बन्धु, पद्म सिंह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवान दीन आदि प्रमुख रहे हैं। रामचन्द्र शुक्ल के दौर में हिन्दी आलोचना का अपना जातीय स्वरूप निर्मित हुआ। इन सभी युगों के

साथ–साथ छायावादी कवियों की आलोचना तथा डॉ० देवराज के आलोचनात्मक अवदानों को भी इस अध्याय में रेखांकित किया गया है।

दूसरे अध्याय में साही के समकालीन आलोचकों की आलोचना दृष्टि पर विचार किया गया है। मार्क्सवाद समीक्षक शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त, डॉ० रामविलास शर्मा, गजानन् माधव मुक्तिबोध, डॉ० नामवर सिंह के साथ–साथ प्रयोगवादी कवि–आलोचक 'अज्ञेय' तथा नई कविता, नई समीक्षा के आलोचक रघुवंश, लक्ष्मीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी की आलोचना–दृष्टि का जायजा लिया गया है।

तीसरे अध्याय में साही के आलोचना–कर्म को उनके प्रकाशित 'निबन्ध–सग्रहो' के संदर्भ में विश्लेषित किया गया है। साही के प्रकाशित निबन्ध–संग्रह छठवां दशक, साहित्य क्यों ?, साहित्य और साहित्यकार का दायित्व, लोकतंत्र की चुनौतियॉ, वर्धमान और पतनशील के साथ–साथ 'जायसी' को केन्द्र में रखकर उनकी विचार सरणि का विश्लेषण किया गया है।

चौथे अध्याय में साही के आलोचनात्मक–प्रतिमानों की खोज की गयी है।

पॉचवें अध्याय में साही की सांस्कृतिक–दृष्टि का जायजा लिया गया है। सांस्कृतिक दृष्टि के संदर्भ में साही के राजनैतिक तथा साहित्यिक और सामाजिक दृष्टि को भी रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

छठे अध्याय यानी 'उपसंहार' में साही के 'हिन्दी आलोचना' के संदर्भ में दिये गये योगदानों को रेखांकित किया गया है।

इस शोध–प्रबन्ध का सामग्री–संकलन लेखन एवं प्रस्तुतीकरण मैंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की पूर्व अध्यक्ष एवं प्रोफेसर आदरणीया मालती तिवारी जी के निर्देशन में किया गया है। उनके मातृ–तुल्य स्नेह, सतत् प्रोत्साहन के चलते ही मैं इस कार्य को पूरा कर सका। इसके लिए मैं प्रो० तिवारी का आजीवन आभारी रहूँगा।

हिन्दी विभाग के वर्तमान विभागाध्यक्ष प्रो० राजेन्द्र कुमार और सुप्रसिद्ध आलोचक एवं विद्वान प्रोफेसर सत्यप्रकाश मिश्र के अमूल्य सुझावों से मेरा मार्ग सदैव प्रशस्त होता रहा है। जिसके लिए मै उनका सदैव ऋणी रहूँगा। इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में पत्रकारिता से अध्यापन की दुनिया में आये हिंदी विभाग के रीडर डॉ० मुश्ताक अली ने न सिर्फ अपने सुझाव दिये बल्कि निरन्तर सहयोग भी देते रहे, जिसके लिए मैं उनका हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ और उम्मीद करता हूँ कि भविष्य में भी उनका स्नेह और सहयोग मिलता रहेगा। इस मौके पर कवि अनिल कुमार सिंह, कवि नीलाभ और लेखन पत्रिका के सम्पादक विद्याधर शुक्ल के साथ–साथ श्रीमती शीला राय, श्रीमती सुष्मिता श्रीवास्तव, को भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने न सिर्फ प्रोत्साहन दिया बल्कि अनेक प्रकार की सामग्री भी उपलब्ध करवायी जिससे इस कार्य को पूर्ण करने में मदद मिली।

मैं अपने निजी जीवन के स्वस्थ–प्रतिस्पर्धी एवं सहयोगी मित्र कुमार वीरेन्द्र सिह को भी इस अवसर पर धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होंने इस कार्य के लिए लगातार उत्तेजित किये रखा। साथ ही ब्रह्मेश्वर प्रसाद पाठक, अरुण कुमार सिंह 'सहयोगी', अंजनी कुमार सिंह, धनपाल सिंह, अनीश कुमार त्रिपाठी, स्वतंत्र कुमार सिंह, दिनेश सिंह, राजकुमार सिंह, रामकुमार वर्मा, विनोद त्रिपाठी, सर्वेश रत्न सिंह को भी धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने के लिए सदैव प्रेरित किया।

इस अवसर पर अपने बाबा स्व० जगन्नाथ तिवारी का स्मरण करते हुए उनके प्रति अपनी भाव–भीनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ, जिन्होंने बचपन से ही लिखने–पढने के प्रति जिज्ञासा का भाव जगाया। अपने बड़े पिता श्री कमलाकान्त तिवारी जी और पिता श्री कैलाश नाथ त्रिपाठी जी के आशीर्वाद से ही मैं इस कार्य को पूर्ण कर सका, उन सभी के प्रति मै आभार व्यक्त करता हूँ। साथ ही दोनों बड़ी माताओं श्रीमती प्रभावती देवी, श्रीमती कुलवन्ती देवी के साथ–साथ मॉ श्रीमती सुशीला त्रिपाठी के मातृत्व स्नेह से ही मैं यह कार्य पूर्ण करने में सफल रहा, जिनका मैं आजीवन ऋणी तो हूँ ही, उनके असीम आशीर्वाद का आकांक्षी भी हूँ। इस अवसर पर अपने अग्रज श्री राजेन्द्र नारायण तिवारी, श्री जीतेन्द्र कुमार तिवारी,

श्री राघवेन्द्र प्रताप त्रिपाठी और भाभियो श्रीमती इन्दु तिवारी, श्रीमती इन्दु बाला तिवारी और श्रीमती आभा त्रिपाठी के प्रति भी आभार व्यक्त करना चाहता हूँ, जिनके आशीर्वचन के बगैर यह कार्य पूर्ण हो ही नहीं सकता था। साथ ही अपनी भतीजी कु० सोनाली तिवारी को भी सस्नेह धन्यवाद देना चाहता हूँ, जिसने कि लिखने के क्रम मे सहयोग प्रदान किया।

मै हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हिन्दुस्तानी ऐकेडमी, केन्द्रीय राजकीय पुस्तकालय, हिन्दी परिषद् पुस्तकालय तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय कर्मियो को भी धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होंने इस कार्य को पूर्ण करने में विशेष सहयोग प्रदान किया।

अन्त में, मैं 'जय मॉ दुर्गे कम्प्यूटर प्वांइट' के कम्प्यूटर आपरेटरों क्रमशः संतोष दास, रमेश यादव, एवं चन्द्रभान सिंह को भी धन्यवाद ज्ञापित करना चाहता हूँ जिन्होने अल्प समय मे इस कार्य को पूर्ण करने में सहयोग प्रदान किया।

शोधार्थी

(धारवेन्द्र प्रताप त्रिपाठी)

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

दिनांक : 11.11.2002

विषय सूची

प्रथम अध्याय

विजय देव नारायण साही पूर्व हिन्दी आलोचना

(क) हिन्दी की रीतिकालीन आलोचना

(ख) भारतेन्दु युगीन हिन्दी आलोचना

(ग) द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना

महावीर प्रसाद द्विवेदी

(घ) तुलनात्मक आलोचना

मिश्रबन्धु

पदम सिंह शर्मा

कृष्ण बिहारी मिश्र

लाला भगवान दीन

(ङ) बालमुकुन्द गुप्त

(च) आचार्य द्विवेदी के सहयोगी आलोचक

(छ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(ज) प्राध्यापकीय आलोचना

बाबू श्यामसुन्दर दास

(झ) छायावादी कवि आलोचक

(ञ) प्रभाववादी आलोचना

शांतिप्रिय द्विवेदी

(ट) आचार्य शुक्ल की आलोचना परम्परा के आलोचक

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एवं अन्य

(ठ) शुक्लोत्तर आलोचना–त्रयी

नन्द दुलारे वाजपेयी

हजारी प्रसाद द्विवेदी

रसवादी समीक्षक – नगेन्द्र

(ड) डॉ० देवराज

विजय देव नारायण साही पूर्व हिन्दी आलोचना का इतिहास एक वैविध्यपूर्ण आलोचना, का इतिहास है। साही के आलोचना कर्म का समय बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध (1950–1982) है। हिन्दी आलोचना की शुरूआत 1880 के आस–पास भारतेन्दु युग से होती है। हिन्दी के साहित्य के भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, शुक्ल युग, शुक्लोत्तर युग के बाद प्रगतिशील साहित्यिक युग में विजय देव नारायण साही का आर्विभाव होता है। साही के दौर में जहां आलोचना का वितान लम्बा–चौड़ा रहा है, वहीं इसमें विचारधारात्मक प्रवृत्ति का जोर रहा है। साही पूर्व हिन्दी आलोचना पर विचारविमर्श करने से पूर्व हमें 'आलोचना' के उन पहलुओं पर भी ध्यान देना होगा जिनसे 'आलोचना' का मार्ग प्रशस्त हो सका। हिन्दी आलोचना को समझने के लिए संस्कृत के साथ–साथ रीतिकालीन आलोचना पर एक सरसरी निगाह डाल लेना जरूरी है।

हिन्दी साहित्य में गद्य की सशक्त विधा 'आलोचना' का सूत्रपात यद्यपि भारतेन्दु युग से होता है, लेकिन भारत में आलोचना कर्म का सूत्रपात राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में किया जिसे औचित्यवादियों ने व्यावहारिक रूप प्रदान किया।[1] संस्कृत साहित्य में सिद्धान्त ग्रन्थों को आधार मानकर विविध सम्प्रदायों के अन्तर्गत काव्यात्मा के सम्बन्ध में जो विचार–विमर्श हुआ है उसे 'आलोचना' के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। प्रसिद्ध विद्वान, भगीरथ मिश्र ऐसी आलोचना को सूत्रमयी सैद्धान्तिक आलोचना[2] स्वीकार करते हैं। काव्यात्मा के प्रश्न को मुख्यतः पांच सम्प्रदायों के आचार्यों ने हल करने की कोशिश की है। अलंकार सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय ये प्रमुख पांच सम्प्रदाय है। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त सिद्धान्त निरूपण का एक और स्वरूप संस्कृत साहित्य में मिलता है। रचनात्मक साहित्य को आधार बनाकर काव्य के अनेक भेद–उपभेद करके, काव्य को शैली के नियमों के अतिरिक्त वर्ण्य विषयों के मान निर्धारित कर उनके ग्रहण और ताज्य के विधानों के दिग्दर्शन के साथ–साथ गुण और दोषों के स्वरूप का निर्धारण करने की प्रवृत्ति भी संस्कृत साहित्य में रही है। रामदरश मिश्र के अनुसार–"यह सैद्धान्तिक आलोचना थोड़े–थोड़े अन्तरों के

सभी फुटनोट अध्याय के अन्त में दिये गये हैं

कारण सूत्र, कारिका फक्किका, वृत्ति, टिप्पणी, भाष्य, समीक्षा, वचनिका टीका, व्याख्यान आदि अनेक नाम धारण करती है।"[3]

(क) हिन्दी की रीतिकालीन आलोचना

संस्कृत–साहित्य में आलोचना का जो विविध रूप था लगभग वैसा ही रूप रीतिकालीन हिन्दी आलोचना में देखने को मिलता है। आचार्य केशव ऐसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने काव्य के सभी अंगों का सम्यक् रूप से शास्त्रीय निरुपण करने का प्रयास किया है, यद्यपि यह धारा पचास वर्षों बाद चिन्तामणी से होती हुई पूरे रीतिकाल तक विद्यमान रही वैसे साहित्य चर्चा का प्रारम्भिक रूप कृपा राम की हित तरगिणी से मिलता है। निर्मला जैन के अनुसार "वस्तुतः सही रूप में हिन्दी में शास्त्र चर्चा का आरम्भ भक्तिकाल में कृपा राम (1588) की 'हित तरंगिणी' से ही माना जाता है। इस ग्रन्थ का आधार भरत मुनि का नाट्यशास्त्र तथा भानुदत्त की रसमंजरी थे।"[4]

संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर 'हित तरंगिणी' ही नहीं बल्कि रीतिकालीन तमाम लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई है। यदि रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों को संस्कृत साहित्य का हिन्दी संस्करण भी कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। यह अवश्य है कि छिट–पुट रूप से कही–कहीं मौलिक उद्भावना के भी दर्शन होते हैं। संस्कृत साहित्य से इतनी निकटता के बावजूद रीतिकालीन साहित्य चर्चा का फलक बहुत छोटा है। रामदरश मिश्र इसके कई कारण मानते हैं। उनके अनुसार–"एक तो यह कि संस्कृत साहित्य के पास विकसित गद्य था जबकि हिन्दी के पास परिष्कृत प्रौढ गद्य का कोई रूप न था, अतएव छन्दों में ही सारी बातें कही जाती थीं, शास्त्र चर्चा के लिए छन्दों की भाषा अनुपयुक्त सिद्ध होती है। एक तो शास्त्रीय बातें यों ही जटिल होती हैं, दूसरे यदि उन्हें सूत्र रूप में कह दिया जाय तो उनकी जटिलता और बढ़ जाती है, तीसरे छन्दों के आग्रह से इस प्रकार अंग–भंग करके उन्हें कठघरे में बैठा दिया जाए कि वाच्यार्थ भी साफ न हो तो फिर शास्त्रीय चर्चा हो चुकी। हिन्दी साहित्य शास्त्र के अविकसित रहने का एक अन्य कारण यह भी है

कि रीतिकाल के सभी आचार्य पहले कवि थे फिर आचार्य, उनका ध्येय दोहों, सोरठों में काव्यांगों का लक्षण देकर उदाहरण स्वरूप अपनी कवितांए प्रस्तुत करना था।"[5]

(ख) भारतेन्दु युगीन हिन्दी आलोचना

भारतेन्दु युग में हिन्दी गद्य के विकास के साथ ही आलोचना, साहित्य की सर्जनात्मक विधा के रूप में अग्रसर होने लगी। यद्यपि काव्य के क्षेत्र में छायावाद के पूर्व तक ब्रजभाषा का ही बोलबाला था, परन्तु खड़ी बोली के गद्य रूप के विकसित होने के साथ ही कहानी, नाटक, उपन्यास के साथ–साथ 'आलोचना' विधा का रूप संवरने लगा।

गद्य के विकास के साथ–साथ पत्र–पत्रिकाओं के प्रकाशन, यूरोपियों का साहित्य पर पडा प्रभाव, साथ ही हिन्दी में होते अन्य भाषायी अनुवादों के कारण 'हिन्दी आलोचना' एक विधा के रूप में अग्रसारित हुई। 'हिन्दी आलोचना' के प्रारम्भिक रूप को संवारने का काम अंग्रेजों का ही रहा है। डॉ0 रामाधार शर्मा का मानना है कि "सर्वप्रथम हिन्दी पर व्यवस्थित समीक्षाएं अंग्रेजों की ही उपलब्ध होती हैं। हिन्दी समीक्षा के आरम्भ में जार्ज गियर्सन, एफ0एस0 ग्राडज जैसे अंग्रेज समीक्षकों के नाम दिखाई पडते हैं। इनके उपरान्त कारपेन्टर, फरकुहर, जे0एम0, मेंकफी, आर0डब्ल्यू फ्रेजर आदि अंग्रेज विद्वानों और गार्सा द तासी फ्रान्सिसी के नाम उल्लेखनीय है। इन लोगों के पास एक समृद्ध समीक्षा दृष्टि थी, जिससे इन्होंने साहित्य को प्रभावित किया। समीक्षा के अवरूद्ध द्वार को खोलने का बहुत कुछ श्रेय इन अग्रेज समीक्षकों को भी दिया गया है।"[6]

हिन्दी आलोचना के लिए एक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि इसके प्रारम्भिक समय से ही आलोचना की दृष्टि काव्य के नैतिक पक्षों पर अधिक लगी रही है, कला पक्ष पर कम। भारतेन्दु युग में साहित्य सम्बन्धी दो दृष्टियां मिलती हैं। एक तरफ उसमें अतीत के प्रति मोह है तो दूसरी तरफ आधुनिक नव विचारों के मूल्यों की महत्ता पर जोर है। यह आधुनिक दृष्टि खांटी स्वदेशी दृष्टि रही हो, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन यूरोपीय प्रभाव के बावजूद इसे भारतीय दृष्टि माना

जा सकता है। सामाजिक, राजनैतिक दृष्टि से राम मनोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे कालजयी व्यक्तित्व इस चेतना के अग्रदूत थे तो स्वामी दयानन्द सरस्वती इसके संवाहक थे। दयानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व नये–पुराने के संक्रमण से उत्पन्न हुआ व्यक्तित्व है। 'स्वदेशी' की वकालत करते हुए दयानन्द सरस्वती कहते हैं "कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरी, उत्तम होता है। अथवा मत–मतान्तरों के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता–पिता के समान कृपा, पाप और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदाय नहीं है।"[7]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने राष्ट्रीय उत्थान के लिए राजनीतिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार की जागृति पैदा की, जिसमें नव प्रकाश के साथ–साथ स्वदेशाभिमान भी भरा था। इसी समय के आस–पास गोपाल हरि देशमुख, महादेव गोविन्द रानाडे, बाल गगाधर तिलक बंकिम चन्द्र चटर्जी, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, एम0जी0 चन्द्रावरक, जी0के0 गोखले आदि विचारकों ने एक तरफ तो ब्रिटिश सत्ता की कृतज्ञता को स्वीकारा तो दूसरी तरफ भारत की संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, परम्परा आदि पर जोर दिया और जनता के राष्ट्रीय तथा जन्मसिद्ध अधिकारों की वकालत भी की। वस्तुतः इस द्विविधाग्रस्त स्थिति से राजनीतिक विचारक ही नहीं, अपितु सामाजिक, साहित्यिक, यहां तक जो भी जागरूक लोग थे सभी गुजर रहे थे। समाज और साहित्य का अनुस्यूत सम्बन्ध होता है तो स्वाभाविक था कि युगीन परिस्थितियां साहित्य को भी प्रभावित करतीं इसीलिए भारतेन्दु युगीन साहित्य में जहां राजभक्ति के तत्व भी मिलते हैं तो दूसरी तरफ आम जनता के करुण चितकार का भी तत्व मिलता है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना' के अपने जातीय स्वरूप का जो प्रारम्भिक रूप है उस पर कहीं न कहीं गहरे स्तर पर पाश्चात्य का प्रभाव अवश्य पड़ा है और यह प्रभाव आज भी विद्यमान है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

'हिन्दी आलोचना' के प्रारम्भिक समय में गुण–दोष के आधार तत्व पर ही साहित्य की परीक्षा की जाती रही। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस बात को यों लक्षित किया है "समालोचना के दो प्रधान मार्ग होते हैं, निर्णयात्मक (जुडिशियल

मेथेड) और व्याख्यात्मक (इंडक्टिव क्रिटिसिज्म)। निर्णयात्मक आलोचना किसी रचना के गुण–दोष निरुपित करके उसका मूल्य निर्धारित करती है। उसमें लेखक या कवि की कहीं प्रशंसा होती है, कहीं निन्दा। व्याख्यात्मक आलोचना किसी ग्रन्थ में आई हुई बातों की एक व्यवस्थिति रूप में सामने रखकर उनका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे हिन्दी साहित्य में समालोचना पहले पहल केवल गुण–दोष दर्शन के रूप में प्रकट हुई।"[8]

अपने प्रारम्भिक रूप में हिन्दी आलोचना' भले ही निर्णयात्मक रही हो तथापि धीरे–धीरे आलोचना का वृत्त बढ़ने लगा। जकडबन्दी से मुक्त होते ही 'आलोचना' की दिशा गुण–दोष से अलग होकर तथ्यान्वेषी मार्गों पर चलने लगी जिसके परिणामस्वरूप एक स्वस्थ सुगठित आलोचना का नवोन्मेष बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे हुआ।

भारतेन्दु–युग में आलोचना मुख्यतः पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से ही अपना रास्ता बनाती हुई विकसित होती है। इस काल में किसी कवि, कृति के ऊपर पुस्तककार रूप में कोई आलोचनात्मक पुस्तक नहीं मिलती है। आनन्द कादम्बिनी, हिन्दी प्रदीप, हरिश्चन्द्र मैंगजीन, ब्राह्मण आदि पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी आलोचना का बीज विकसित होता है। रामचन्द्र तिवारी का मानना है कि "भारतेन्दु युग में आधुनिक आलोचना का रूप यदि कहीं बीज रूप में सुरक्षित है तो वह पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक समीक्षाओं में ही है।[9]"

कालक्रम की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के प्रथम आलोचक बालकृष्ण भट्ट[10] ने हिन्दी प्रदीप' (जुलाई 1881) में "साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है" में साहित्य को जनसमूह के चित्त का चित्रपट स्वीकार किया। भट्ट जी लिखते हैं "साहित्य यदि Nation जनसमूह के चित्त का चित्रपट कहा जाय तो सङ्गत है, किसी देश का इतिहास पढने से केवल बाहरी हाल हम उस देश का जान सकते हैं पर साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय–समय के आभ्यन्तरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं।"[11] उपर्युक्त उद्धरण से यह ध्वनित होता है कि भारतेन्दु युग में साहित्य राज महल से निकलकर जनपथ की तरफ अग्रसर हो चला था। अब

साहित्य केवल भोग–विलास या कला मात्र नहीं था, बल्कि उसकी नजर आम जनता की चित्त वृत्ति की तरफ उन्मुख हो रही थी।

'हिन्दी आलोचना' का प्रारम्भिक रूप 'नाटक' केन्द्रित रहा है। 'नाटक' भारतेन्दु युगीन साहित्य का मूल स्वर रहा है। नाटक विधा के माध्यम से इस युग के लेखकों ने साहित्य और जनता के प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष सम्बन्धों को स्पष्टतः दिखाया है। आधुनिक काल में जब जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन हो रहा था, नया समाज बन रहा था तो स्वाभाविक था कि परम्परा से चली आ रही नाटकों की प्रणाली में परिवर्तन किया जाय। परिवर्तनवादी स्वर में प्रेमधन' ने 1881 की आनन्द कादम्बिनी में 'दृश्य रूपक वा नाटक' शीर्षक अपनी लेख माला में लिखा "हमारे भाषा के नाटक लिखने वालों के अर्थ, भाषा दृश्य काव्य के निरुपण, और लक्षण तथा भेद, रीति, नियम और उदाहरण का बतलाने वाला कोई साहित्यिक ग्रन्थ नहीं और जो संस्कृत में 'षष्ठ परिच्छेद' साहित्य दर्पण में श्री विश्वनाथ कविराज रचित, दशरूपक सूत्र इत्यादि हैं, अब उनमें बहुत से गडबड़ समय और भाषा परिवर्तन के कारण हो गये और कितनी बातों का विरोध पड़ गया, अतएव मुख्य तो इनका आश्रय लेकर उस समय से इधर के बने नाटक तथा अंग्रेजी, बंगला दूसरी रीति से हमारी भाषा के भी (जो हैं) और गुजराती महाराष्ट्री से भी जांचकर नये तरह पर खासकर इस नागरी भाषा में कोई ग्रन्थ होना अत्यन्त आवश्यक है।"[12]

इसी बात को केन्द्रित करते हुए भारतेन्दु ने अपने समय की केन्द्रिय रचना विधा नाटक के शास्त्रीय विवेचन के साथ–साथ संक्षिप्त इतिहास को नये भाव–बोध से "नाटक अथवा दृश्य काव्य" शीर्षक से 1883 में प्रस्तुत किया। इसमें भारतेन्दु का स्वर आधुनिक है, पृष्ठभूमि यद्यपि परम्परागत ही है। भारतेन्दु का मानना है कि "संस्कृत नाटक की भांति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।"[13]

भारतेन्दु युग में आलोचकों की दृष्टि चिर–पुरातन के साथ नित नूतन की रही। इस युग में पुस्तकों की विस्तृत समीक्षा का भी चलन शुरू हुआ। आचार्य शुक्ल का मानना है कि "पुस्तकों की विस्तृत समालोचना उपाध्याय पं0 बदरी नारायण चौधरी ने अपनी आनन्द कादम्बिनी में शुरू की। लाला श्री निवास दास के सयोगिता स्वयंवर नाटक की बडी विशद और कडी आलोचना जिसमें दोषों का उद्घाटन बडी बारीकी से किया गया था उक्त पत्रिका में निकाली थी।"[14]

वैसे लाला श्री निवास दास के सयोगिता स्वयंवर पर 'हिन्दी प्रदीप' अप्रैल 1886 मे पं0 बाल कृष्ण भट्ट ने सबसे पहले समीक्षा प्रस्तुत की। 'हिन्दी प्रदीप' की समीक्षा की उत्कृष्टता को आनन्द कादम्बिनी' में स्वीकार किया गया है।

'हिन्दी प्रदीप' में 'सच्ची समालोचना' शीर्षक से की गई समीक्षा में पं0 बाल कृष्ण भट्ट ने इसकी कथा वस्तु में वस्तुनिष्ठता के अभाव के साथ–साथ इसकी ऐतिहासिकता पर भी प्रश्न चिन्ह लगाया है। साथ ही इसके पात्रों को लेकर भी आलोचना की गई है। पात्रों को चारित्रिक वैशिष्ट्य से रहित मानते हुए भट्ट जी लिखते हैं "हमने जहां तक नाटक देखे उसमें पात्रों की व्यक्ति (Characterization) के भिन्न–भिन्न होने ही से नाटक की शोभा देखा। पर आपके पात्र सब के सब एक ही रस में सने उपदेश देने की हवस से लथर–पथर पाये गये और उस रस में आप ही कि विद्या के प्रकाश का जहर भरा है।"[15]

भट्ट जी को पात्रों के द्वारा अनेकानेक विषयों पर उपदेश देने की प्रवृत्ति इतनी बुरी लगी कि वे खिन्न होकर लिखते हैं कि "आप एकता, सच्ची प्रीति आदि विषयों पर अपने पात्रों के मुख से लेक्चर दिया चाहते हैं तो एक सलाह मेरी है उसको सुनिये इस नाटक को काट–छांट इसमें से आठ दस (पैंफलेट) छोटे–छोटे गुटके छपवा दीजिये।"[16]

भट्ट जी व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग अपनी आलोचना में करते हैं। संयोगिता के इस आचरण पर कि – जब वह पृथ्वीराज से पहली मुलाकात में मद्यपान के लिए कहती है 'साजन थोडा फुर्ती घणी जाणाय सूर चढ़ै अरु श्रम मिटै बार न खाली जाय' पर व्यंग्य करते हुए भट्ट जी लिखते हैं "हाय–हाय संयोगिता

पर भरपूर शामत सवार हुई जो उसके बारे में नाटक लिखने का हौसला आपके मन में बढा।[17]

'आनन्द कादम्बिनी' में प्रकाशित समीक्षा आकार की दृष्टि से 'हिन्दी प्रदीप' से बडी है। इस नाटक की समीक्षा उपाध्याय पं0 बदरी नारायण चौधरी प्रेमधन ने 'संयोगिता स्वयम्वर नाटक' के नाम से 'प्राप्ति स्वीकार व समालोचना' स्तम्भ के तहत किया है। इस समीक्षा में भूल–दोषो को दिखाया गया है साथ ही सुधार का निर्देश भी दिया गया है।

प्रेमधन जी की समीक्षा का अधिकांश भाग त्रुटियों को ही बताने में निर्दिष्ट है। वाक्य में आए शब्दों तक में परिवर्तन की बात कही गयी है। इसके साथ ही प्रेमधन जी ने शेक्सपियर कालिदास, भारतेन्दु के प्रभाव को इसमें लक्षित किया है।प्रेमधन जी की व्यंग्यात्मक शैली भट्ट जी से भी अधिक तीक्ष्ण है। नाटक के एक दृश्य जिसमें पृथ्वीराज काम भावना के आवेश में मूर्छित होने लगता है पर प्रेमधन जी की टिप्पणी है–"क्या मिरगी आती थी ?"[18]

इन समीक्षाओ से स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु युग में आलोचना की दृष्टि एकांगी नहीं थी। हां प्रारम्भिक अवस्था होने के कारण आलोचना में 'गुण–दोष' पर ही अधिक ध्यान दिया गया है। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक अथवा दृश्य काव्य' शीर्षक निबन्ध में जिन प्रतिमानों की बात की थी, उन प्रतिमानों के आधार पर ही ये समीक्षाएं प्रस्तुत हुई।

'हिन्दी प्रदीप' मे 'संयोगिता स्वयम्वर' के अलावा रणधीर प्रेममोहिनी, नील देवी, भारत–दुर्दशा आदि नाटकों पर भट्ट जी ने समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किया है। नाटकों के अतिरिक्त इस पत्र में मौलिक तथा अनुदित उपन्यासों की समीक्षा की गई है। परीक्षा गुरु के अतिरिक्त अपने समय के बहुचर्चित उपन्यासों रमेश चन्द्र दत्त के बंगला उपन्यास का बाबू गदाधर सिंह कृत हिन्दी अनुवाद 'बंगविजेता' तथा गोपाल राम गहमरी कृत 'देवरानी जेठानी' की समीक्षा करते हुए भट्ट जी का मानना है कि ऐतिहासिक–सामाजिक नाटक लिखने वालों को ऐसे उपन्यासों से प्रेरणा लेनी चाहिए।

नाटक, उपन्यास के अतिरिक्त इस काल में कविता, निबन्ध के साथ–साथ अनुवाद कैसा होना चाहिए, भावों की अभिव्यक्ति कैसी हो, भाषा कैसी हो आदि महत्वपूर्ण विषयों पर विमर्श किया गया है। 'प्रेमधन' जी ने 'दृश्य रूपक व नाटक' में अनुवाद की कसौटी निर्धारित करते हुए लिखते हैं "जिस ग्रन्थ का आप अनुवाद करना चाहते हैं और वैसे ही रखते, अवश्य श्वेत स्वच्छ वस्तु को सुन्दर हल्के गुलाबी (प्याजा) रंग से रंगकर सुशोभित कीजिए पर ऐसा अमौआ की बोर न बोरिये कि धुलाने पर भी हाय–हाय मच जाय।"[19] इसीलिए "योग्य कवि के कविता के अनुवाद का योग्य कवि का होना अत्यन्तावश्यक है।"[20]

पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'सच्ची कविता' शीर्षक से हिन्दी प्रदीप' में कविता सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को उद्घाटित करते हुए लिखा है कि "बहुत जल्द ऐसा समय आता है कि झूठा और नकली सोने को असिल कर दिखा देने का हुनर लोगों को मालूम हो जाता है ठीक यही बात कविता में है। निःसंदेह पहले जिन लोगों ने कुछ कहा वह सच्ची और खरी बात थी, क्योंकि कविता का Art हुनर तब तक पैदा ही नही हुआ था कविता झूठी और नकली होने की सम्भावना ही नहीं थी इसको हम प्राथमिक अथवा वास्तविक कविता कहेंगे।"[21]

राष्ट्रवादी भट्ट जी ने साहित्य को मानव के हृदय का आदर्श रूप स्वीकार किया है। "साहित्य जिस देश के जो मनुष्य हैं उस जाति की मानवी सृष्टि के हृदय का आदर्श रूप है जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिलुप्त रहती है वह सब उनके भाव उस समय की साहित्य की आलोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं।"[22]

इस युग की एक अन्य महत्वपूर्ण पत्रिका 'ब्राह्मण' जिसके सम्पादक पं० प्रताप नारायण मिश्र जी थे में बराबर पुस्तकों की समीक्षा प्रकाशित होती रही। इन समीक्षाओं में महत्वपूर्ण समीक्षा 'सती नाटक' के अतिरिक्त 'वीर नारी नाटक' और पद्मावत' की है। इस युग में सैद्धान्तिक आलोचना की दृष्टि से जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' का द्वन्द्व प्रभारक (1887) और नागरी प्रचारिणी पत्रिका (1897) में प्रकाशित गंगा प्रसाद अग्निहोत्री का लेख 'समालोचना' भी महत्वपूर्ण है।

भारतेन्दु युगीन आलोचना में निर्णयात्मक समीक्षा का स्वर तेज तो है पर सिद्धान्तवादी दृष्टि भी मिलती है लेकिन इसकी कोई स्पष्ट दृष्टि तो नहीं बनती, हॉ, 'आगे के लिए राह' बनाने का यत्न स्पष्ट रूप से मिलता है। रीतिकालीन संस्कारों से मुक्ति का प्रयास भी इस युग में मिलता है। डॉ0 निर्मला जैन के अनुसार "पुरानी पद्धति की पर्याप्तता को लेकर सन्देह तो उत्पन्न हो गया था, किन्तु इस युग की आलोचना मे रचनात्मक साहित्य के सन्दर्भ में किसी सुनिश्चित नयी आलोचनात्मक पद्धति का निर्माण नही हो सका था। आलोचक की इस द्विविधाग्रस्त स्थिति को ध्यान मे रखते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को हिन्दी आलोचना का 'संक्रमण काल' कहा जा सकता है।"[23]

वस्तुतः इस युग की आलोचना में गुण–दोष विवेचन के साथ–साथ आदेशात्मक सुझाव का पुट बराबर मिलता रहता है। पर यह सुझाव जनवादी साहित्य के निर्माण के लिए है न कि दरबारी संस्कृति के पुर्नजन्म के लिए। नाटक, कविता के क्षेत्र में भले ही 'राज–स्तुति' के तत्व मिलते हैं, पर आलोचना इस प्रवृत्ति से मुक्त है। विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार "जनसमूह के हृदय की भावनाओं' का आग्रह करके ही हिन्दी की आलोचना रीतिकालीन केंचुल उतारकर आधुनिक बनी।"[24]

(ग) द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना

भारतेन्दु युग में जहां आलोचना 'नाटक' केन्द्रित रही वहीं बीसवीं शताब्दी में यह 'कविता' केन्द्रित हो जाती है। समय के साथ–साथ आलोचना का क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है। भारतेन्दु युग में जहां 'अनुवाद, और तात्कालिक रचना पर ही आलोचना केन्द्रित रही, वहीं द्विवेदी युग मे आकर, संस्कृत के कवियों के साथ–साथ, रीतिकाल और आधुनिक काल को केन्द्र में रखकर विकसित होती है। यद्यपि भारतेन्दु युगीन प्रवृत्तियां इस युग में भी मिलती है, लेकिन सुधारवादी प्रवृत्ति के अलावा द्विवेदी युग में नये–नये भाव बोधों का परिष्कार, साहित्यिक नैतिक दायित्व के साथ–साथ 'भाषा' को व्यवस्थित करने का भी उपक्रम बराबर चलात रहता है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

1903 में सरस्वती[25] के सम्पादक का कार्यभार संभालने के बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी ने न सिर्फ गद्य–पद्य की भाषा के एकीकरण पर जोर दिया, बल्कि खडी बोली को व्याकरण बद्ध करके सुगठित, स्वस्थ भाषा का दर्जा भी दिलाया। गद्य–पद्य की भाषा के एकीकरण का समर्थन करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं "कोई कारण नहीं कि हम लोग बोलें एक भाषा में और कविता करें दूसरी भाषा में। बातचीत के समय जो जिस भाषा में अपने विचार प्रकट करता है वह यदि उसी भाषा में कविता भी करे तो और उत्तम हो। ब्रजभाषा बहुत काल से कविता में प्रयुक्त होती आयी है पर एक अथवा दो जिले की भाषा पर देशभर के निवासियों का प्रेम बहुत दिन तक नहीं चल सकता।"[26]

भारतेन्दु युग में जहा एक विशेष कृति को लेकर आलोचना प्रस्तुत की जाती रही, वहीं पहले–पहल किसी ग्रन्थकार को लेकर आलोचना करने का प्रारम्भिक प्रयास आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का ही है। हिन्दी आलोचना के पहले इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "किसी ग्रन्थकार के गुण अथवा दोष ही दिखलाने के लिए कोई पुस्तक भारतेन्दु के समय में न निकली थी। इस प्रकार की पहली पुस्तक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' थी जो इस द्वितीय उत्थान के आरम्भ में ही निकली। इसमें लाला सीता राम बी०ए० का अनुवाद किए हुए नाटकों के भाषा तथा भाव संबंधी दोष बडे विस्तार से दिखाए गए है।"[27] द्विवेदी जी ने जहां संस्कृत कवियों को अपनी आलोचना का विषय बनाया वहीं आधुनिक कविता धारा को रीतिकालीन मानसिकता से मुक्त करके, आधुनिक भाव–बोध से संपृक्त करने का प्रयास भी किया। ऐसी प्रवृत्ति इस युग के सभी आलोचकों की रही है। द्विवेदी जी ने यद्यपि परिचयात्मक रूप से ही बीते युग के साहित्य का परिचय दिया है, लेकिन कमियों को निर्दिष्ट करने में खरी–खरी बाते कहीं है। महत्वपूर्ण तथ्य यह नहीं है कि कैसी आलोचना की गई है, महत्वपूर्ण तो यह है कि द्विवेदी जी ने अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों को आधुनिक संदर्भ से देखने का प्रयास किया है।

द्विवेदी युग सुधारवादी युग रहा है। द्विवेदी जी ने आदर्शवादी नैतिक दृष्टि से कविता के महत्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि "कवि का प्रधान गुण सृष्टि नैपुण्य है। सुन्दर–सुन्दर चरित्रों की सृष्टि और उस चरित्रावली का देश काल और अवस्था के अनुसार काव्य में समावेश करना ही कवि का सर्वश्रेष्ठ कौशल है।"[28] उपदेशात्मक शैली से 'आधुनिक कविता' की आलोचना में द्विवेदी जी ने कविता को न सिर्फ अलंकारों, छन्द, तुकबन्दी से मुक्त करने का आग्रह किया, बल्कि कवियो को नये–नये विषयों पर भी ध्यान केन्द्रित करने का आग्रह किया। रीतिकालीन कविता की सामन्तवादी दृष्टि से इतर आधुनिककाल की कविता की वकालत करते हुए द्विवेदी जी का मानना है कि आज के समय में "नायिका भेद और रस तथा अलंकार के विवेचन से पूरित पुस्तकों की भी इस समय आवश्यकता नहीं।"[29]

कविता में 'अर्थ' को महत्व देते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं कि "अर्थ सौरस्य ही कविता का प्राण है। जिस पद्य में अर्थ का चमत्कार नहीं वह कविता नहीं।"[30] अर्थ सौरस्य कविता में कैसे आता है? द्विवेदी जी कहते हैं "कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए। ऐसा न होने से अर्थ–सौरस्य नहीं आ सकता।"[31]

अपने समकालीन ग्रन्थों की समीक्षा द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में 'रिव्यू' के आधार पर की है। यद्यपि इसमें गहरी मीमांसा के तत्व तो नहीं मिलते, लेकिन कृतियों की उपयोगिता और भाषा का मूल्यांकन अवश्य हुआ है। द्विवेदी जी ने 'रिव्यू' के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि उन्होंने न सिर्फ साहित्यिक कृतियों की समीक्षा की बल्कि गैर–साहित्यिक जैसे, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि विषयों का मूल्यांकन किया जिससे हिन्दी पाठकों को अन्य विषयों की भी सारगर्भित जानकारी मिलती रहती थी।

द्विवेदी जी ने अपने युग के नाटकों, उपन्यासों पर भी अपनी तीक्ष्ण, खरी, बेधक दृष्टि से विचार किया है। यद्यपि द्विवेदी जी की आलोचना में ऐसी विधाओं का फलक, कविता विधा की अपेक्षा छोटा है। अभिनय के महत्व को प्रतिपादित

करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं "समाज की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं और दृश्यों का जैसा अच्छा चित्र अभिनय द्वारा दिखाया जा सकता है वैसा अच्छा और किसी तरह नही।"[32] आदर्शवादी नैतिक दृष्टि के प्रस्तोता आचार्य द्विवेदी ने पारसी रंगमंच के बढते प्रकोप को साहित्य के लिए हानिप्रद माना। उनका मानना है कि "जो नाटक आजकल इन प्रान्तो में नाटक कंपनियों के द्वारा खेले जाते हैं वे प्रायः उर्दू में है। उनमे दिखलाये जाने वाले सामाजिक चित्र बहुधा अच्छे नहीं है।"[33] भारतेन्दु के जो विचार हिन्दी नाटकों के आधुनिक सन्दर्भ में थे लगभग वैसा ही विचार द्विवेदी जी का भी है। भरत और धनंजय के नियमों के आधार पर आज के दौर में नाटक लिखना द्विवेदी जी के अनुसार कोई अच्छी बात नहीं है। क्योंकि "जीवन की घटनाएं, इतिहास मे वर्णन की गयी बातें, नाटक के विषय से संबंध रखने वाली कथाएं ये सब एक प्रकार की प्रचंड लहरे हैं"[34] और इन उठने वाली लहरों को "एक श्रृंखला में बांधकर यथास्थान रखना और अपेक्षानुसार जिसका जब समय आवे उठने देना चाहिए।"[35]

आधुनिक साहित्यिक विधा उपन्यास के बारे में द्विवेदी जी 'उपन्यास–रहस्य' शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं कि "प्रकृत उपन्यास साहित्य के जनन, उन्नयन और प्रचलन का श्रेय पश्चिमी देशों के ही लेखकों को है"[36] उपन्यास का महत्व इस दृष्टि से है कि "काव्यों और नाटकों की भी पहुंच जहां नहीं वहां भी उपन्यास बेधडक पहुच सकते हैं।"[37] उपन्यास में मनोविज्ञान की वकालत करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं "उपन्यासों में मनुष्यों ही के चरित्रों और मनुष्यों ही के कार्यों तथा उनसे संबंध रखने वाली घटनाओं का वर्णन रहता है। उसमें स्वाभाविकता लाने के लिए मनोविज्ञान का जानना जरूरी है।"[38]

द्विवेदी जी के समय तक हिन्दी आलोचना का इतिहास बहुत लम्बा नहीं था फिर भी द्विवेदी जी ने समालोचना' के लिए मानदण्ड निर्धारित करते हुए लिखा है कि "योग्य समालोचक अपनी समालोचना में समालोचित ग्रन्थ के ऐसे रहस्य प्रकट करते हैं जो साधारण विद्या बुद्धि के पाठकों के ध्यान में नहीं आ सकते। समालोचक कवि के हृदय के भावों को खोलकर सर्वसाधारण के सामने रख देता है।"[39] पांडित्यपूर्ण आलोचना का विरोध करते हुए द्विवेदी जी का मानना है कि रचना और

आलोचक के बीच का सम्बन्ध एक सहचर के जैसा होना चाहिए। "किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नही, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुंच सकता है या नहीं लेखक ने नयी बात लिखी है या नहीं, यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानतः इन्ही बातों पर विचार करना चाहिए।"[40] वस्तुतः द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य को परिमार्जित करने के प्रयास किया है। एक तरफ उन्होंने भाषा, व्याकरण को व्यवस्थित करने का प्रयास किया तो दूसरी तरफ नयी—नयी बातों को वह चाहे देशी हों, चाहे विदेशी को हिन्दी साहित्य से जोड़ने का प्रयास किया। द्विवेदी जी के महत्व को रेखांकित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मानना है कि "यदि द्विवेदी जी न उठ खडे होते तो जैसी अव्यवस्थित व्याकरणबद्ध विरूद्ध और उट—पटांग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रूकती।"[41]

'जीवन के संचित राशि कोशों का नाम साहित्य है' मानने वाले महावीर प्रसाद द्विवेदी ने न सिर्फ साहित्य को आधुनिक भावबोध से संपृक्त किया, बल्कि अपने नैतिक विवेक से खरी—खरी आलोचना कर साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। निर्मला जैन के अनुसार "द्विवेदी जी की आलोचना पद्धति में जितनी निर्भिक कट्टरता मिलती है, ज्ञानार्जन में उतनी उदार ग्रहणशीलता। उनकी आलोचना दृष्टि के निर्माण में हिन्दी, संस्कृत ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य का भी योग था। वे उर्दू, बंगला, मराठी आदि का साहित्य पढते ही नहीं थे, जो उन्हें रूचिकर लगता उसे निःसंकोच ग्रहण कर लेते थे। इन प्रभावों को खुलेआम स्वीकार करते थे और जहां अन्य साहित्यों की तुलना में उन्हे हिन्दी में कुछ कमी दिखाई पड़ती थी, वहां वे ललकार कर हिन्दी के लेखकों को चुनौती देते थे इस मामले में उन्होंने कभी कोई मुरौवत नहीं बरती। इस बैमुरौवती से पैदा होने वाला खरापन उनके बाद दुर्लभ हो गया।"[42]

(घ) तुलनात्मक-समीक्षा

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की जननोन्मुखी बनाने के लिए नैतिकता सामाजिक उपादेयता के साथ–साथ भाषा परिष्करण पर जोर दिया वहीं उनके समकालीन आलोचकों खासकर मिश्र बन्धु, पद्म सिंह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन ने तुलनात्मक आलोचना पर जोर दिया।

रामचन्द्र तिवारी ने तुलनात्मक आलोचना का इतिहास बताते हुए लिखा है कि "तुलनात्मक मूल्याकन आलोच्य (द्विवेदी युग) समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्ति कही जा सकती है। तुलनात्मक आलोचना का आरम्भ सामान्यतः 1907 में पद्म सिंह शर्मा द्वारा 'बिहारी' और 'सादी' की तुलना से माना जाता है। किन्तु यह सही नहीं है। बाबू शिवनन्दन सहाय ने सन् 1905 में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की कविता की विस्तृत समीक्षा करते हुए उनकी तुलना शेखर 'पद्माकर', तुलसीदास आदि कवियों से की है और उन्हें एक प्रकृत कवि के रूप में प्रस्तुत किया।"[43]

कालक्रम की दृष्टि से भले ही इसे द्विवेदी युगीन प्रवृत्ति माना जाय, लेकिन यह पद्धति एकदम नवीन नहीं है। आलोचना के क्रम में कविता की भिन्नता दिखाने के क्रम में, कवि की महत्ता दिखाने के क्रम में यह प्रवृत्ति संस्कृत साहित्य में भी विद्यमान रही है और आज इक्कीसवीं सदी में भी इसका स्फुट प्रयोग हो रहा है। लेकिन यह भी सच है कि रूढ़ि के रूप में इसका प्रयोग द्विवेदी युग में ही हुआ है।

मिश्र–बन्धु

तुलनात्मक पद्धति के आधार पर आलोचकीय पुस्तक लिखने का प्रथम प्रयास मिश्र बन्धुओं ने 1910 में किया था। मिश्र–बन्धु पं0 गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र पं0 शुकदेव बिहारी मिश्र में से पं० श्याम बिहारी मिश्र, पं० शुकदेव बिहारी मिश्र ने सयुक्त रूप से दिसम्बर 1900 की सरस्वती में 'हिन्दी काव्य' विषय पर लेख लिखा है जिसमें खड़ी बोली में कविता लिखने का आग्रह किया है। इससे पूर्व सितम्बर 1900 की सरस्वती में रीतिकालीन कवि चन्द्रशेखर वाजपेयी के प्रबन्ध काव्य 'हम्मीर हठ' की आलोचना करते हुए मिश्र बन्धुओं ने अंग्रेजी समीक्षा के मानकों का

उपयोग किया है। 1910 मे गणेश बिहारी मिश्र को साथ लेकर मिश्र बन्धुओं की त्रयी ने 'हिन्दी नवरत्न' नामक हिन्दी आलोचना की पहली पुस्तक प्रकाशित करायी। इसकी भूमिका में मिश्र बन्धुओं ने आलोचना के महत्व को रेखांकित करते हुए लिखा है कि "भविष्य के लेखकों और कवियों के लिए समालोचना गुरु का काम करती है, क्योकि उन्हें वह यह सिखलाती है कि किस प्रकार की रचना अच्छी है, और सभ्य समाज में आदर पा सकती है।"[44]

हिन्दी नवरत्न में कवियों को श्रेणियों में रखते हुए मिश्र बन्धुओं ने कवियों का क्रम उनकी काव्य प्रौढता के आधार पर निर्धारित किया। कवियों की श्रेणियां हैं–[45]

1. गोस्वामी तुलसीदास जी 2. महात्मा सूरदास जी 3. महाकवि देवदत्त देव 4. महाकवि बिहारी लाल 5. त्रिपाठी बन्धु भूषण और मतिराम 6. महाकवि केशवदास 7. महात्मा कबीर दास जी 8. महाकवि चद बरदाई 9. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

हिन्दी नवरत्न के पहले संस्करण में कबीर दास का स्थान नहीं था, लेकिन दूसरे संस्करण में उनका स्थान निर्धारित करते हुए मिश्र बन्धुओं का मानना है कि "कबीर दास को नवरत्न में लेना ठीक जंचा किन्तु किसी को निकाल डालना उचित न जानकर भूषण और मतिराम को त्रिपाठी बन्धु कहकर नवरत्न नाम सार्थक रक्खा।"[46]

महत्वपूर्ण बात यह है कि मिश्र बन्धुओं ने तुलसीदास, सूरदास के साथ रीतिकाल के कवि देव को हिन्दी कवियों की वृहत्रयी में स्थान दिया है। विवादास्पद तरीके से ऐसा मूल्यांकन मिश्र बन्धुओं ने क्यों किया? नन्द किशोर नवल का मानना है कि "मिश्रबन्धु तुलसीदास और सूरदास का या कहें कि हिन्दी की भक्ति काव्य परम्परा का सही मूल्यांकन नहीं कर सके इसका कारण स्पष्टतः उनकी सामन्ती रूचि है। वे उस नवीन भारत की चेतना के प्रतिनिधि नहीं थे जो समाज और देश के सभी क्षेत्रों में सामन्तवाद और उपनिवेशवाद का विरोध करने के लिए उठ खड़ा हुआ था। इन आलोचकों का यह सामन्ती संस्कार ही था कि उन्होंने रीति–ग्रन्थकार कवि देव को हिन्दी कवियों की वृहत्त्रयी में गिनाया और उन्हें तुलसी–सूर के समकक्ष बतलाया।"[47]

यांत्रिक मूल्यांकन के कारण मिश्रबन्धु कवि के अन्तःकरण में प्रवेश नहीं कर पाये सिर्फ उपरी–उपरी बातों को ही ध्यान में रखकर कवियों का श्रेणीक्रम निर्धारित कर दिया। मिश्र बन्धु बराबर तुलना पर ही केन्द्रित रहे, इसलिए कवियों के वैशिष्ट्य को वे उभार नहीं पाये साथ ही ऐसी तमाम अनर्गल बातें प्रस्तुत कर दी जो कवियों मे है ही नहीं। इस ग्रन्थ के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि "कवियों की विशेषताओं के मार्मिक निरुपण की आशा में जो इसे खोलेगा वह निराश होगा।"[48] मिश्र बन्धुओं का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है 'मिश्र–बन्धु विनोद' जो चार खण्डों मे है। अपने इतिहास लेखन के क्रम में शुक्ल जी ने इस ग्रन्थ का उपयोग रीतिकाल के कवियों के परिचय में किया है। इस ग्रन्थ में मिश्र बन्धुओं ने कवियों को काल खण्ड के आधार पर बांटकर उनका परिचय दिया है। इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्व अधिक है।

नव–पुरातन चेतना से मिश्र बन्धुओं ने अपने समकालीन कवि श्रीधर पाठक की रचनाओं की समीक्षा करते हुए 'एकान्तवास योगी' और 'जगत सचाई सार' को खडी बोली की रचनाओं के लिए आदर्श माना। मिश्र बन्धुओं ने जहां हिन्दी कविता के जातीय स्वरूप को पहचानने का प्रयास किया वहीं आधुनिक काल के कवियों पर भी दृष्टि रखी। लेकिन रीतिकालीन संस्कारों के कारण वे आधुनिक काल की कविता की मूल नब्ज को नहीं पहचान पाये। राम दरश मिश्र का मानना है कि "मिश्र बन्धु एक ओर नया होने का प्रयास कर रहे थे, दूसरी ओर पुरानी साहित्यिक मान्यतायें उनका पीछा कर रही थीं। इस प्रकार उनमें पुराने रीतिवाद और नये आदर्शवाद का एक बडा दृष्टिहीन असन्तुलित संयोग दिखाई पड़ता है। नई वस्तुओं को बटोरने में उनकी ललक तो अवश्य थी, किन्तु उनका सही मूल्यांकन कर सकने की न तो उनमें क्षमता ही थी, न दृष्टि ही।"[49] कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मिश्र बन्धुओं की समीक्षा का ऐतिहासिक महत्व तो अधिक है व्यावहारिक महत्व नाममात्र का ही है।

पद्‌म सिंह शर्मा

'हिन्दी–नवरत्न' की समीक्षा पद्धति से प्रभावित होकर 'देव और बिहारी' को लेकर इस युग में पद्‌म सिंह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र, लाल भगवानदीन ने एक के बाद एक समीक्षा पुस्तकें प्रकाशित की। 'बिहारी सतसई' में पद्‌म सिंह शर्मा ने बिहारी को देव से श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए अपने रीतिकालीन रूझानों का ही परिचय दिया है। बिहारी ही नहीं अपने युगीन काव्यधारा 'छायावाद' के विवेचन में भी शर्मा जी ने रीतिकालीन दृष्टि का ही परिचय दिया है। पारसनाथ सिंह के नाम लिखे पत्र से यह स्पष्ट है कि शर्मा जी को छायावाद को लेकर जिज्ञासा तो थी लेकिन रीतिकालीन संस्कारों के कारण उसका मूल वे नहीं समझ पाते। पत्र का मजमून कुछ यों है–"मैं न छायावाद का विरोधी हूँ और न खड़ी बोली का। पर दुर्भाग्य से छायावाद के नाम से जो कुछ आज कल निकल रहा है, वह मेरी समझ से बाहर है। अज्ञेय मीमांसा है। इसलिए मजबूर हूँ। दाद नहीं दे सकता। समझूं तो दाद हूँ। छायावाद के रहस्य पर आप कुछ प्रकाश डालिये तो शायद कुछ तत्व समझ में आ जाये।"[50] मुजफ्फरपुर के हिन्दी सहित्य सम्मेलन में सभापति के पद से बोलते हुए शर्मा जी ने नयी कविता (छायावाद) और उर्दू कविता की तुलना की "उर्दू वाले कविता में भावों की नवीनता भरते हैं पर भाषा और रीति वही प्राचीन परिष्कृत है, उनकी गाड़ी की गति बदल गयी है रफ्तार में फर्क आ गया है पर धुरा और पहिये बदस्तूर वही हैं। हमारे हिन्दी के नवीन कवियों की गति' बिलकुल निराली है, वह कविता की गाड़ी के धुरे और पहिये बदल रहे हैं"[51] छायावाद के सबसे सुकुमार कवि पन्त पर गहरा आघात करते हुए शर्मा जी कहते हैं कि "पल्लव के नोकीले और जहरीले कांटे इनके दिल में न चुभाइये, 'वीणा' में सोहिनी के स्वर छेड़िये, मारुराग न बजाइये।"[52]

वस्तुतः शर्मा जी का काव्यगत संस्कार रीतिकालीन कविता के साथ–साथ महफिली उर्दू कविता के आधार पर बना था जिससे वे 'छायावाद' को स्वीकार नहीं कर पाये। आर्यसमाजी शर्मा जी ने सूर–तुलसी के बजाय मतिराम, देवी, बिहारी को इसलिए पसन्द किया कि इनकी कविता में चमत्कार था। 'बिहारी सतसईः एक तुलनात्मक अध्ययन' (1918) में शर्मा जी ने छायावाद को रीतिकालीन कविता की

अपेक्षा हीन समझा। भूमिका में शर्मा जी लिखते हैं "हमारी भाषा की बहार बीत गयी, अब कभी खत्म न होने वाली 'खिजा' के दिन हैं, भाषा के रसिक भौरें कान देकर सुनें और ऑख खोलकर देखे, कोई पुकार रहा है –

"जिन दिन देखें वे कुसुम गयी सुबीत बहार।
अब अलि! रही गुलाब में अपत कटीली डार।"[53]

आलोच्य पुस्तक में शर्मा जी ने बिहारी के दोहों की आर्या सप्तशती, गाथा सप्तसती, अमरुक शतक, संस्कृत, हिन्दी और उर्दू के अन्य कवियों से निःसंकोच तुलना करते हुए बिहारी के दोहों में आये उनके प्रभावों और बिहारी द्वारा उनके उपयोग के तरीकों को लेकर विचार किया है। बिहारी के दोहों से जहां कहीं अन्य कवियो की समानता मिलती है, शर्मा जी इसे 'मजमून लड जाना' कहते हैं। उर्दू कविता के संस्कारों के चलते शर्मा जी की शैली में 'महफिली दाद' की रंगत कुछ अधिक है। शर्माजी की एक अन्य विशेषता प्रभाविव्यंजकता है जैसे बिहारी के इस दोहे–

छूटे छुटावै जगत तें सटकारे सुकुमार।
मन बांधत बेनी बधे नील छबीले बार।

पर शर्मा जी की टिप्पणी है "इसका जबाब किसी को याद हो तो बतलावें! क्या कहना है, क्या कही है। ये बाल क्या हैं, काली बला हैं। एक आफत हैं कयामत हैं। छुटे हुए चैन लेने दें न बंधे हुए!" इसकी तुलना संस्कृत के एक कवि की उक्ति से करते हुए, 'आप कहते हैं कि जरा ठहरियो, अभी जूड़ा न बांधो, मेरी आंखे केशपाश के सघन जाल में फंसी हैं, मै जरा उन्हें आहिस्ता–आहिस्ता उभार लूं वहां से निकाल लूँ कहीं वह बालों में बंधी न रह जाएं'–पर शर्मा जी की टिप्पणी है "क्या सूझी है, इन हजरत ने यदि बिहारी के केशों की करामात सुनी होती तो ऐसी फिजूल आरजू कभी न करते। अरे! बाबा! आंखे ज्यों त्यों करके निकाल भी ली तो क्या हुआ! इस नागन के मुंह में से मन तो नहीं निकाल सकोगे?"[54]

श्रृंगार प्रधान कविता का विरोध करते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसे आधुनिक भाव–बोध की दृष्टि से हीन माना था लेकिन उनके ही समकालीन शर्मा

जी ने इससे उलट निर्णय दिया। उनका मानना है कि श्रृंगार रस के वर्णनों से कवि समाज में धूर्त पाखंडियों विटों की चाल का पता बता देते हैं। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए शर्मा जी अनर्गल तर्कों का सहारा लेते, श्रृंगार रस की महत्ता प्रतिपादित करते हुए, यहाँ तक कहते है कि "कौन कहता है कि वृद्ध जिज्ञासु, बाल ब्रह्मचारी, मुमुक्षु यति और जीवन मुक्त सन्यासी भी काव्य के ऐसे प्रसंगों को अवश्य पढे। ऐसे पुरुष काव्य के अधिकारी नहीं हैं।"[55] मतलब यह कि पाठक ही अपने रुचि को बदले कविता में केलि क्रीडा होना आवश्यक है।

'वेदों की ओर लौटो' का तात्पर्य अपने विचारों को प्राचीन बना लेना है तो निःसंदेह आर्य समाजी शर्मा जी ने इस सूत्र का पूरा का पूरा अनुसरण किया है। अपने पुरातन पंथी साहित्यिक रुचि के चलते तुलनापरक आलोचकों खासकर शर्मा जी ने हिन्दी आलोचना को उस पथ से च्युत कर दिया जो भारतेन्दु युग में आलोचकों ने दिखाया था। बावजूद इसके हिन्दी आलोचना के विकास में शर्मा जी का महत्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने तुलना करने के क्रम में साहित्य की साहित्यिक परम्परा को उद्घाटित कर दिया। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "किसी चली आती हुई साहित्यिक परम्परा का उद्घाटन भी साहित्यिक समीक्षक का एक भारी कर्तव्य है। हिन्दी के दूसरे कवियों के मिलते–जुलते पद्यों की बिहारी के दोहों के साथ तुलना करके शर्मा जी ने तारतमिक आलोचना का शौक पैदा किया।"[56]

कृष्ण बिहारी मिश्र

मिश्र–बन्धुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' में देव को बिहारी से श्रेष्ठ माना वहीं पद्म सिंह शर्मा ने बिहारी को देव से श्रेष्ठ माना। तुलनात्मक आलोचकों की इसी कड़ी में देव की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कृष्ण बिहारी मिश्र ने किया। अपने युगीन अन्य आलोचकों की अपेक्षा मिश्र जी में नये युग की पदचाप कुछ अधिक सुनाई पडती है। 'देव और बिहारी' जो करीब 1920 के आस–पास प्रकाशित हुई थी कि भूमिका में खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा की कविता को एक करने का विचार मिश्र जी ने किया। साथ ही ब्रजभाषा को कविता से मुक्त रखने के आग्रह का विरोध भी किया। भूमिका में मिश्र जी लिखते हैं–"समग्र राष्ट्र के विचार से खड़ी बोली में

कविता होनी चाहिए परन्तु परिचित हिन्दी–भाषी जनता एवं प्रादेशिक लोगों के हित का लक्ष्य रखकर ब्रजभाषा में की जाने वाली कविता का गला घोंटना ठीक नहीं। ब्रजभाषा मे कविता होने से खड़ी बोली की कविता को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुच सकती। दोनों को मिल–जुलकर काम करना चाहिए। हमारी राय में खडी बोली ब्रजभाषा में प्रचलित कविता संबंधी नियमों का अनुकरण करे, और ब्रजभाषा खडी बोली में व्यक्त होने वाले सामयिक विचारों से अपने कलेवर को विभूषित करे।''[57]

खडी बोली में व्यक्त होने वाले सामयिक विचारों को महत्ता देने के बावजूद मिश्र जी की कविता सम्बन्धी धारणा रीतिकालीन ही थी। 'देव और बिहारी' में किसी शीतल कवि के एक छन्द जिसका अन्तिम चरण है ''जानी यह तद्‌गुण भूषण है पंच रंगा हार चमेली का'' पर टिप्पणी करते हुए मिश्र जी कहते हैं ''कुछ लोगों की राय में खड़ी बोली में कविता नहीं हो सकती। हम यह बात नहीं मानते। प्रतिभावान कवि किसी भी भाषा में कविता कर सकता है। शीतल कवि की भाषा ब्रजभाषा न होते हुए भी उक्ति चमत्कार के कारण रमणीय है।''[58] कहने की आवश्यकता नहीं कि 'उक्ति चमत्कार' का प्राधान्य रीतिकालीन कविता का एक प्रमुख तत्व रहा है। कलावादी दृष्टिकोण का परिचय मिश्र जी ने 'मतिराम ग्रन्थावली' की विशालकाय भूमिका में भी दिया है। रीतिकालीन कवियों को 'कविता' के अस्तित्व की रक्षा का श्रेय देते हुए मिश्र जी का मानना है कि ''इन्हीं कवियों ने यदि प्रेम–भक्ति का दिव्यचित्र भी खींचा होता, तो क्या बात थी! वे ऐसा न कर सके, इसका खेद है, पर उन्होंने जो कुछ किया उसके लिए उनको शाप देने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने प्रतिकूल समय में कविता के दीपक को बुझने से बचाया। क्या हुआ जो बुरे तेल के कारण दीपक से कुछ मलिन धुँआ भी निकला। यदि विषय–प्रेम पर कविता लिखने वाले कवियों का भी अभाव हो गया होता तो संसार से काव्यालोक का सदा के लिए विच्छेद हो गया होता।''[59] मिश्र जी का यहां तक मानना है कि ''विषय रस में सराबोर कविता में रमणीयता है, इसीलिए चाहे वह उपयोगी न हो और चाहे उसके द्वारा समाज में किसी प्रकार के कुरूचि के भावों को आश्रय मिला हो, परन्तु कविता अवश्य है। कविता क्षेत्र से उसका बहिष्कार नहीं किया जा सकता।''[60]

'देव और बिहारी' पुस्तक मूलतः 'बिहारी सतसई : तुलनात्मक अध्ययन' के प्रतिक्रिया स्वरूप लिखी गयी। पद्म सिंह शर्मा के उपर पक्षपात का आरोप लगाते हुए मिश्र जी लिखते है कि "इस पक्षपात का चूड़ान्त उदाहरण पाठकों को इसी बात से मिल जायेगा कि देव–सदृश्य उच्च कोटि के श्रृंगारी कवि की कविता से बिहारी के दोहों की तुलना तो दूर रही, उस बेचारे का नाम तक, सजीवनी भाष्य के प्रथम भाग में नहीं आने पाया है। यदि देव और बिहारी की तुलना होती और यह दिखलाया जाता कि बिहारी लाल देव से श्रेष्ठ है, तो बात दूसरी थी।"[61]

बहरहाल मिश्र जी ने देव और बिहारी के दोहों को परस्पर सामने रखकर देव की महत्ता प्रतिपादित की। जैसे बिहारी के दोहे–

> बाल कहि ला भई, लोयन कोयन भौह ?
> लाल, तिहारे दृगन की परी दृगन में छांह!
> के जबाब में देव के पद –
> "काहू के रंग रगै दृग रावरे रावरे रंग रंगे दृग मेरे"

को रखते हुए मिश्र जी सम्मति देते हैं कि "आपके नेत्र किसी और रंग के रंगे हुए है, और मेरी आंखे आपके रंग में, इसी से दोनों की आंखें रंगीन है। रंग में रंगना एक सुन्दर मुहाविरा है। इस मुहाविरे के बल पर आँखों की सुर्खी का जो पता दिया गया है, वह खूब रंगीन और सुकुमार है। बिहारी के दोहे में नेत्रों में जो लालिमा आयी है, वह दूसरे नेत्रों की छॉह पड़ने से पैदा हुई पर देव जी के छंद में यह रंग छॉह पडने से नहीं आया है, वरन् सहज ही उत्पन्न हुआ है। अनुप्रास चमत्कार भी खासा है।"[62]

तुलनापरक आलोचना का एक विकृत रूप उभर आता है जब 'कविता' के वजाय 'कवि व्यक्तित्व' को लेकर आक्षेप किया गया। मिश्र जी ने देव की श्रेष्ठता सिद्ध करने में बिहारी के चरित्र को संदिग्ध बताया है। वे लिखते हैं "बिहारी लाल ने परकीया का वर्णन स्वकीया की अपेक्षा अधिक किया है, और अच्छा भी किया है। इस प्रकार के वर्णनों से कवि की साहित्यिक मर्मज्ञता एवं रचना चातुरी झलकती हैं, परन्तु कवि के चरित्र में सन्देह होता है।"[63] तो देव के बारे में मिश्र जी का कहना

है कि "वह बिहारी लाल से अधिक चरित्रवान् समझ पड़ते हैं, उन्होंने तरुणियों के मनोविकारों का वर्णन ही अधिक किया है।"[64] 'हिन्दी नवरत्न' में मिश्र बन्धुओं ने देव के बारे में लिखा कि "इन्होंने प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की स्त्रियों का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया है। इनका देश वर्णन देखकर कहीं–कहीं यह संदेह अवश्य उठता है कि संभवतः इनका चाल–चलन बहुत ठीक नहीं था।"[65] का जबाब मिश्र जी ने बिहारी के चरित्र को संदिग्ध बताकर दिया है। अच्छा हुआ कि ऐसी परिपाटी 'हिन्दी आलोचना' में आगे नही चली नहीं तो बेचारे कवियों को अपना 'चरित्र' बचाने के लिए न जाने क्या–क्या करना पड़ता।

कृष्ण बिहारी मिश्र ने तुलना करने के क्रम में ईमानदारी का परिचय दिया है। उन्होंने केवल 'काव्य चमत्कार' के आधार पर ही देव को श्रेष्ठ नहीं बताया, बल्कि भाषा, भाव, अलंकारों कुल मिलाकर शास्त्रीय रूढ़ि के आधार पर देव की श्रेष्ठता प्रतिपादित की।

इस पुस्तक की प्रशंसा करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं "इस पुस्तक में बडी विशिष्टता, सम्यता और मार्मिकता के साथ दोनों बड़े कवियों के भिन्न–भिन्न रचनाओं का मिलान किया गया है.....यह पुरानी परिपाटी की साहित्य समीक्षा के भीतर अच्छा स्थान पाने योग्य है।"[66]

एक और महत्वपूर्ण बात मिश्र जी की तुलना समीक्षा की यह रही कि उन्होंने एक ही भाषा के कवियों की आपस में तुलना की है जबकि उनके पूर्ववर्ती आलोचक अन्य भाषा के कवियों को भी केन्द्र में रखते थे। यह सच है कि मिश्र जी की आलोचना दृष्टि पुरातन पंथी थी, लेकिन भाषा की दृष्टि से मिश्र जी, मिश्र–बन्धुओं, पद्म सिंह शर्मा से अधिक चौकस, व्यवस्थित दृष्टिकोण वाले प्रतीत होते हैं। साथ ही अपने पूर्ववर्तीयों की अपेक्षा मिश्र जी ने कवियों के अन्तःकरण में प्रवेश करने का भी प्रयास किया है। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने मिश्र जी की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "मिश्र बन्धुओं की अपेक्षा पं0 कृष्ण बिहारी जी साहित्यिक आलोचना के कहीं अधिक अधिकारी कहे जा सकते हैं।"[67]

लाला भगवानदीन

'देव और बिहारी' मे कौन श्रेष्ठ है? के प्रश्न से अन्तिम बार जूझने वाले द्विवेदीयुगीन अवखड आलोचक लाला भगवानदीन हैं। विरोधाभासी साहित्यिक दृष्टिकोण से लाला भगवानदीन ने बिहारी को देव से श्रेष्ठ बताया। दीन जी खड़ी बोली मे कविता करते थे, लेकिन अध्यव्यासायिता रीतिकालीन काव्य था। भाषा में व्याकरण पर दीन जी अधिक विचार करते थे।

आचार्य द्विवेदी जी ने भारत–भारती की प्रशंसा करते हुए इससे आधुनिक कवियों को प्रेरणा लेने की बात कही थी। लाला भगवानदीन ने अपनी पत्रिका 'लक्ष्मी' में धारावाहिक रूप से भारत–भारती की समीक्षा की और द्विवेदी जी की बात को गलत साबित करने का प्रयास किया। गुप्त जी की ''भारत–भारती' का मूल्यांकन 'भाषा' के आधार पर करते हुए दीन जी का मानना है कि ''साधारण बोलचाल में औरों की बात ही क्या स्वयं गुप्त जी भी ऐसी भाषा नहीं बोलते। पुस्तक भर में जगह–जगह पर व्याकरण का गला घोंटा गया है। मुहावरों की मट्टी पलीद की गयी है। इसकी भाषा खड़ी बोली के बजाय पड़ी बोली, गड़ी बोली, कड़ी बोली वा सडी बोली कही जा सकती है।''[68] दीन जी को 'भारत–भारती' में न सिर्फ भाषा सम्बन्धी दोष दिखाई पड़े बल्कि विचार की दृष्टि से भी यह कृति नहीं जंची। महावीर प्रसाद द्विवेदी के उपर भद्दा आक्षेप लगाते हुए दीन कहते हैं कि ''इसका प्रमाण देना आवश्यक नहीं जंचता कि जो विचार इस पुस्तक में प्रगट किये गये हैं वे सब पुराने ही हैं इस बात को सभी पाठक जानते हैं की यही विचार अनेक लेखकों ने अनेक पत्रों में इस पुस्तक की रचना से बहुत पहले प्रकट किये थे। हां, सब विचारों को एकत्र कर देने का श्रेय बेशक गुप्त जी पा सकते हैं, पर महाबीरी शाबासी नहीं। दो वर्ष तक परिश्रम करके जो व्यक्ति कुछ नवीन विचार न प्रगट कर सके वह व्यक्ति कवि कहलाने का कहां तक उपयुक्त पात्र हो सकता है, इस पर पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।''[69] अपने रीतिवादी संस्कारों के कारण ही दीनजी कविता में उक्ति वैचित्र्य की तरह विचार वैचित्र्य की अपेक्षा रखते थे, इसी पूर्वग्रहीता के कारण 'भारती–भारती' का आधुनिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन नहीं कर पाये। गुप्त जी के अन्य काव्य 'जयद्रथबध' की आलोचना करते हुए दीन जी ने इसे

भी एक हीन कृति करार दिया। 'लक्ष्मी' जुलाई, अगस्त, सितम्बर 1915 के अपनी लेख माला में दीन जी ने बार–बार 'जयद्रथ–बध' के बजाय 'मैथिली शरण गुप्त' की आलोचना की। दीन जी ने व्यंग्य, उपहास के साथ–साथ कटुक्ति की छौंक देते हुए 'जयद्रथ बध' की भाषा पर टिप्पणी की है "गुप्त जी की कविता को लोग 'खड़ी बोली' की कविता कहा करते हैं। परन्तु हमारी समझ में गुप्त जी की कविता को खडी बोली की कविता कहना भारी भूल है। गुप्त जी ने अपनी कविता के लिए एक विशेष मिश्रित भाषा तैयार की है। जिसे खिचड़ी बोली कह सकते हैं।"[70] खिचड़ी बोली को रूपकात्मक तौर से विश्लेषित करते हुए दीन जी लिखते हैं "इसमें संस्कृत के चावल खड़ी बोली की दाल, संस्कृत और बंगला भाषा के मुहावरों की अदरक, उर्दू फारसी शब्दों की सोंठ मिर्च, ब्रजभाषा और बुन्देल खण्डी मुहावरों का नमक और स्वेच्छापूर्वक नियमोल्लंघन का घृत मिलाया गया है। थोड़े से अंगरेजी शब्दों की हल्दी भी डाल दी गई है। कुछ शब्द गुप्त जी के 'सखुन तकिया' हैं, वे व्यर्थ वा पादपूर्ति के लिए ढूंस दिये जाते हैं। यह पियाज की बघार का काम दे जाते हैं। शायद कोई पन्ना ऐसा न होगा जो हमारे इस कथन की पुष्टि न करता हो।"[71] टीकाकार आलोचक दीन जी ने गुप्त जी के नव विचारों से युक्त, नूतन काव्य पद्धति का मर्म नहीं समझा है इसीलिए उन्होंने अनर्गल प्रलाप किया है।

1926 में प्रकाशित 'बिहारी और देव' पुस्तक लिखने का कारण दीन जी के लिए यह रहा कि "हाल में पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक लिखकर प्रकाशित करायी है। यह पुस्तक बड़े अच्छे ढंग से लिखी गयी है। भाषा भी 'नवरत्न' की भाषा से अच्छी है। पर इसमें उक्त लेखक ने अंत में यही नतीजा निकाला है कि 'बिहारी' की अपेक्षा देव श्रेष्ठतर कवि थे। हमने भी बिहारी और देव के ग्रन्थों का अध्ययन किया है अतः इस विषय पर हमें भी कुछ लिखने का अधिकार है।"[72] 'बिहारी और देव' में दीन जी ने मिश्र बन्धुओं और पं० कृष्ण बिहारी मिश्र द्वारा लगाये गये दस आक्षेपों का जबाब दिया और बिहारी को देव से श्रेष्ठ माना। मिश्र बन्धुओं की आलोचना करते हुए दीन जी ने यहां तक लिखा है कि "देव, बिहारी, केशव इत्यादि के ग्रन्थों को समझना, उनका शुद्ध पाठ जानना

और जिस साहित्यिक मर्मज्ञता का परिचय उन कविताओं में है उसकी बारीकी तक पहुचना आजकल के ग्रेजुएटो के वश की बात नहीं।"[73]

बिहारी, दीन जी की नजर में प्राकृतिक कवि थे जबकि देव ठुकपिट कर कवि बने थे। देव भावापहरण के कवि थे, बिहारी नैसर्गिक। लाला जी का मानना है कि "हम बिहारी को एक महाकवि मानते हैं और देव को तुक्कड कवि (पर तुक्कड़ों में अच्छा)।"[74] देव को नीचा दिखाने के क्रम में दीन जी यहां तक कहते हैं कि "देव हिन्दी साहित्य को बदनाम करने वाला प्रथम कवि है।"[75] 'केशव–पचरत्न' की 'आकाशिका' में भी दीन जी ने तुलनात्मक पद्धति से केशव को सूर–तुलसी से श्रेष्ठ माना है। दीन जी लिखते हैं कि "राम और कृष्ण के भक्तों ने तुलसी और सूर का गुण गा–गाकर सर्वसाधारण के मन में आसन जमवा दिया है पर काव्य कला चातुरी के विचार से देखा जाय तो केशव का स्थान उनसे ऊपर होगा। हां महात्मा और भक्त कवियों में सूर–तुलसी, को ऊँचा स्थान मिल सकता है, पर काव्य कलाधर में तो हम केशव ही को सर्वोच्च स्थान देने की राय देगे।"[76]

इसी आक्रामकता तथा अनर्गल प्रलाप से दीन जी ने रामचरित उपाध्याय के 'रामचरित चिंतामणि' की भी आलोचना की है। वस्तुतः दीन जी की शैली में जो व्यंग्य, निर्भिकता, वाद–विवाद की वक्रता, चुटीलापन और आक्रामक जबाँदानी दिखाई पड़ती है, वह पूरे द्विवेदी युग की रही है। लेकिन रीतिकालीन संस्कारों के कारण दीन जी ने द्विवेदी युगीन परम्परा का सम्यक् निर्वाह नहीं किया है। नन्द किशोर नवल का तो यहां तक मानना है कि "मिश्र बन्धुओं और पं0 कृष्ण बिहारी मिश्र की आलोचना की त्रुटियां दिखलाने में एक सीमा तक कृतकार्य होने के बावजूद दीनजी की आलोचना गुण–दोष विवेचनपरक और तुलनात्मक आलोचना का बहुत ही सतही रूप हमारे सामने रखती है।"[77]

(ङ) बाल मुकुन्द गुप्त

भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग की सन्धि रेखा से अपनी पत्रकारिता शुरू करने वाले बालमुकुन्द गुप्त मूलतः पत्रकार थे, आलोचक नहीं। द्विवेदी युग में भी

आलोचना पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से पुस्तक समीक्षा के रूप में या स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में अपना रास्ता चुनती है। यह और बात है कि 1910 से हिन्दी आलोचना पुस्तककार रूप मे भी मिलती है, लेकिन इसकी आलोचना पद्धति तुलनात्मक अधिक रही है, स्वतन्त्र विवेचन के रूप में कम।

पत्रकार होने के बावजूद बाल मुकुन्द गुप्त ने अश्रुमति नाटक, अद्धखिलाफूल, गुलशन–ए–हिन्द, तुलसी सुधाकर, तारा उपन्यास, प्रवासी की आलोचना, बंगला साहित्य आदि की समीक्षा की है। समीक्षा में गुप्त जी ने रचना के जाति, समाज, देश, भाषा पर बराबर दृष्टि रखी है। जैसे–अश्रुमति की समीक्षा करते हुए गुप्त जी लिखते हैं "साहित्य जहन्नुम मे जाये, हमको साहित्य से कुछ मतलब नहीं है। हमको जो कुछ मतलब है इस पुस्तक से है, वह हिन्दू धर्म लेकर, राजपूतों का गौरव लेकर और हिन्दू पति महाराणा प्रताप सिंह की उज्जवल कीर्ति लेकर है।"[78]

अपनी पत्रकारिता मे जो तेजस्विता, निर्भिकता गुप्त जी ने दिखाई वैसी उनकी आलोचना नहीं है। वास्तव में गुप्त जी प्रकृति से पत्रकार थे, 'साहित्यिक आलोचना' गुप्त जी की इष्ट नहीं थी, पत्रकारिता ही मुख्य थी।

(च) आचार्य द्विवेदी के सहयोगी आलोचक

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक समीक्षक के रूप में जो रीति–नीति बनायी थी, उन्हीं के समकालीन आलोचकों ने तुलनात्मक–परम्परा की शुरूआत कर द्विवेदी जी इतर समीक्षा की। यद्यपि इन पर द्विवेदी जी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। लेकिन इस युग में द्विवेदी जी की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले भी आलोचक रहे है, यद्यपि उनका लेखन स्फुट ही रहा है। उदाहरणार्थ कुछ नाम यों है – अंबिकादत्त वाजपेयी (हिन्दी काव्य की आलोचना), कन्हैया लाल पौद्दार (कालिदास की वैवाहिक कविता), सोमेश्वर दत्त शुक्ल (तुलसीदास की अद्भूत उपमाएं), चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (जय सिंह प्रकाश काव्य), विश्वनाथ (कवि का कर्तव्य), इन्दू शर्मा (कालिदास की निरंकुशता) इन्द्रजीत सिंह बी०ए० (शकुन्तला रहस्य), बद्रीनाथ भट्ट (नाटक और नाट्यकला का ह्रास,हमारे कवि और समालोचक,

ताल्सटाय और शेक्सपियर), अक्षयवट मिश्र (तुलसीदास की नव रसमयी कविता), राम दहिन मिश्र (साहित्य किसे कहते है), कालिदास कपूर (सत्य हरिश्चन्द्र नाटक, सेवा सदन, समालोचना, राम चरित मानस का महत्व), कामता प्रसाद गुरु (हिन्दी नाटकों की भाषा), मालवी प्रसाद श्रीवास्तव (हिन्दू नाटक), मुकुट धर पाण्डेय (गीतांजलीका दुख, भविष्यत् में हिन्दी का रूप क्या होगा?) आदि। मूलतः उपर्युक्त लेखक निबन्धकार है। कुछ के निबन्धों का विषय प्राचीन साहित्य रहा है तो कुछ के समसामयकि विषय। लेकिन एक खास विशेषता यह रही है कि सबमें आदर्शवादी स्वर प्रधान रहा है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है, द्विवेदी युग में हिन्दी आलोचना का विकास मूलतः दो धाराओं में हुआ है। पहली धारा द्विवेदी जी और उनके समान विचार भूमि वाले आलोचकों की है तो दूसरी धारा तुलनात्मक आलोचकों की है। तुलनात्मक आलोचकों का महत्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने आलोचना की पुस्तककार रूप में उपलब्ध कराया साथ ही रीतिकालीन काव्य की विवेचना भी प्रस्तुत की, यह और बात है कि इसकी गुणवत्ता को लेकर संशय है।

(छ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

भारतेन्दु युग से आरम्भ आधुनिक हिन्दी आलोचना द्विवेदी युग में न केवल अपने बाहरी कलेवर में बदली नजर आती है, बल्कि अपने अन्तःकरण में नये–नये भावबोध से सम्पृक्त होकर अग्रसर होती है। अंग्रेजी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि अन्य भाषाओं से प्रेरणा ग्रहण करती 'हिन्दी आलोचना' अपने 'जातीय स्वरूप' की पहचान बनाने लगी जिसको अमलीजामा रामचन्द्र शुक्ल और उनके परवर्ती आलोचकों ने पहनाया। द्विवेदी युगीन भाषा परिष्करण से इस युग में 'हिन्दी' का रूप निखर आया। काव्य और गद्य की बोली के एकीकरण से न सिर्फ हिन्दी साहित्य समृद्ध होता है, बल्कि एक ऐसी दुनिया का निर्माण होता है जिसमें छायावाद, प्रेमचन्द्र, रामचन्द्र शुक्ल का आविर्भाव होता है।

पाश्चात्य और भारतीय चिंतन से निर्मित, आधुनिक भाव बोध से युक्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'आलोचना' को साहित्य की अन्य विधाओं के समकक्ष खडा किया। 1920 के आस–पास न सिर्फ कविता में बल्कि उपन्यास, कहानी के क्षेत्र में भी नव विचारों से युक्त साहित्यिक परम्परा का चलन शुरू हुआ। आलोचना में इस कार्य को आरम्भ करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। आचार्य शुक्ल के नव विचारों के निर्माण मे जर्मनी के प्रसिद्ध प्राणि तत्ववेत्ता हैकेल की पुस्तक 'रिडिल आफ दी यूनिवर्स' का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस पुस्तक का अनुवाद आचार्य शुक्ल ने 'विश्वप्रपंच' के नाम से 1920 मे किया है। इसकी 'स्वस्थ भूमिका' में आचार्य शुक्ल जी ने न सिर्फ हैकेल के विचारों को समझने, समझाने का प्रयास किया है, बल्कि भारतीय चिन्तन से इसके तालमेल को भी उचित अवसर पर दिखाया है। धर्म और आचार के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का कहना है "लोक व्यवहार और समाज विकास की दृष्टि से धर्म और आचार की व्याख्या की गई है, परलोक और अध्यात्म की दृष्टि से नहीं। दूसरे के प्रति जो आचरण हम करते हैं, उसी में अच्छे और बुरे का आरोप हो जाता है।"[79]

भूमिका में आचार्य शुक्ल ने विस्तार से भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र आदि पर विचार किया है। विकासवाद की परिकल्पना को स्वीकार करते हुए आचार्य शुक्ल ने भौतिक जगत को ही वास्तविक संसार माना है। भौतिक जगत की स्वीकृति के साथ ही शुक्ल जी ने अध्यात्म, अज्ञात के प्रति लालसा–रहस्यवाद को काव्य के परे की वस्तु माना। 'विश्व प्रपंच' की भूमिका में आचार्य शुक्ल के जो विचार रहे हैं उसका विस्तार तुलसी–जायसी–सूर सम्बन्धी विवेचना में मिलता है।

समालोचना के सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल की स्पष्ट मान्यता थी कि "समालोचना के लिए विद्वता और प्रशान्त रूचि दोनों अपेक्षित हैं, न रूचि के स्थान पर विद्वता काम कर सकती है और न विद्वता के स्थान पर रूचि। अतः विद्वता से सम्बन्ध रखने वाली निर्णयात्मक आलोचना और रूचि से सम्बन्ध रखने वाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनों आवश्यक है।"[80] तुलसी, जायसी, सूर के साथ–साथ अपने आलोचनात्मक हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य शुक्ल ने हृदय और बुद्धि के

सामंजस्य से आलोचना का मानदण्ड निर्मित किया है। साथ ही रस, कल्पना, प्रतीक को लेकर भी विवेचन प्रस्तुत कर हिन्दी आलोचना को समृद्ध किया।

अपने आलोचकीय बीज शब्द 'लोकधर्म' को लेकर आचार्य शुक्ल ने तुलसीदास पर विचार किया है। यह लोकधर्म क्या है? शुक्ल जी के अनुसार "संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक–एक कोने को स्पर्श करता हुआ जो धर्म निकलेगा, वही लोकधर्म होगा। जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोक धर्म है।"[81] तुलसीदास सगुण भक्ति शाखा के कवि रहे है। सगुण भक्ति के तीन सोपानों को व्याख्यायित करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि सौन्दर्य, शक्ति और शील ये तीन सोपान हैं सगुण भक्ति मे, और तुलसीदास ने "सौन्दर्य के प्रभाव से हृदय को वशीभूत करके शक्ति के अलौकिक प्रदर्शन से उसे चकित करते हुए अंत में वे उसे 'शील' या धर्म के रमणीय रूप की ओर आप से आप आकर्षित होने के लिए छोड़ देते हैं।"[82]

तुलसीदास का महत्व शुक्ल जी के लिए इसलिए भी है कि जहां अन्य कवियों का अधिकार मनुष्य की एक–दो वृत्तियों पर ही था, वहीं तुलसीदास का अधिकार "मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मक सत्ता"[83] पर था।

तुलसीदास के भाषा– बैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए शुक्ल जी ने तुलसीदास की भाषा को जायसी–सूर की भाषा से श्रेष्ठ माना है। तुलसीदास की भाषा शुक्ल जी के अनुसार "भाषा की सफाई और वाक्य रचना की निर्दोषित"[84] से युक्त है। तुलसी, सूर की भाषा में अन्तर स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी अपने इतिहास में लिखते हैं कि "सूरदास में ऐसे वाक्य मिलते हैं जो विचारधारा को आगे बढाने में कुछ भी योग देते नहीं पाए जाते केवल पाद पूत्यार्थ ही लाए हुए जान पड़ते हैं इसी प्रकार तुकान्त भी के लिए शब्द भी तोड़े गये हैं पर गोस्वामी जी की काव्य रचना अत्यन्त प्रौढ और सुव्यवस्थित है एक शब्द भी फालतू नहीं है।[85]

शुक्ल जी ने अपने विवेचन से तुलसीदास के सत्व को उभार कर 'हिन्दी आलोचना' को एक मानक प्रदान करने का स्तुत कार्य किया है। द्विवेदी युग के तुलनात्मक समीक्षकों ने सूर, तुलसी को रीतिकालीन कवियों के समक्ष हीन ठहराने

का प्रयास किया था। शुक्ल जी ने अपने तार्किक विश्लेषण से हिन्दी आलोचना में छाये कुहासे को साफ कर इसे नयी भाव भूमि से संपृक्त कर 'तुलसी–सूर' की पुनः प्रतिष्ठा की।

'जायसी' को हिन्दी काव्यधारा में शुक्ल जी के पहले अछूत माना जाता रहा। शुक्ल जी ने अपने विश्लेषण से 'जायसी' को हिन्दी की 'त्रिवेणी' में स्थान दिलाया। 'जायसी' पर किये उनके कार्य को बाद में वासुदेव शरण अग्रवाल, माता प्रसाद गुप्त आदि ने आगे बढ़ाया, जिसको परिमार्जित, परिसंस्कृति कर नये युग बोध से विश्लेषित करने का काम विजय देव नारायण साही ने किया।

'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका आचार्य शुक्ल की सर्वश्रेष्ठ आलोचनात्मक कृति है। भूमिका में आचार्य शुक्ल ने बड़ी तन्मयता से विशद तार्किक विश्लेषण और वैज्ञानिक इतिहास–दृष्टि से सूफीमत और सूफी कवियों का हिन्दी भाषी जनता पर पड़े प्रभाव के साथ–साथ जायसी के 'पद्मावत' का विश्लेषण किया है।

महत्वपूर्ण बात यह है कि शुक्ल जी ने 'रहस्यवाद' को कविता के बाहर की वस्तु माना, लेकिन उन्होंने सूफी कवियों खासकर 'जायसी' के रहस्यवाद को स्वीकार किया। शुक्ल जी का मानना है कि "अद्वैतवाद के दो पक्ष हैं– आत्मा और परमात्मा की एकता तथा ब्रह्म और जगत की एकता दोनों मिलकर सर्ववाद की प्रतिष्ठा करते हैं, सर्व खल्विदं ब्रह्म। यद्यपि साधना के क्षेत्र में सूफियों और पुराने ईसाई भक्तों द्वारा दोनों की दृष्टि प्रथम पक्ष पर ही दिखाई देती है पर भावक्षेत्र में जाकर सूफी प्रकृति की नाना विभूतियों में भी उसकी छवि का अनुभव करते आए हैं।"[86]

'कवि भावुकता' शुक्ल जी की आलोचना की एक कसौटी है। जायसी में 'कवि भावुकता' को परखते हुए शुक्ल जी का निष्कर्ष है कि "अपनी भावुकता का बड़ा भारी परिचय जायसी ने इस बात में दिया है कि रानी नागमती विरह दशा में अपना रानीपन बिल्कुल भूल जाती है और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप में देखती है। इसी सामान्य स्वाभाविक वृत्ति के बल पर उसके विरह वाक्य छोटे–बड़े सब ह्रदयों को समान रूप से स्पर्श करते हैं।"[87]

'पद्मावत' के 'नागमती वियोग वर्णन' को शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि स्वीकार किया है। जायसी के वर्णन को हिन्दी, संस्कृत, फारसी कवियों से तुलना करते हुए शुक्ल जी ने इसे श्रेष्ठ माना है। जैसे "जब पेड़–पौधे सूख रहे थे, तब पक्षी भी आश्रय न पाकर ताप से झुलस रहे थे। इस प्रकार नागमती की वियोग दशा का विस्तार केवल मनुष्य जाति तक ही नहीं, पशु–पक्षियों और पेड–पोधो तक दिखाई पडता था। कालिदास ने पाले हुए मृग और पौधों के प्रति शंकुतला का स्नेह दिखाकर इसी व्यापक और विशद भाव की व्यंजना की है।"[88] जायसी के पद्मावत को प्रेम गाथा' स्वीकार करते हुए शुक्ल जी ने इसे सूफी कवियों की प्रेमगाथा में सर्वश्रेष्ठ माना है। 'लोककथा' की 'लोकभाषा' को महत्वपूर्ण मानते हुए शुक्ल जी कहते हैं कि "जायसी की भाषा बहुत मधुर है, पर उसका माधुर्य निराला है। वह माधुर्य 'भाषा' का माधुर्य है, संस्कृत का माधुर्य नहीं।... उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए है।"[89]

'भ्रमरगीत सार की भूमिका' में शुक्ल जी ने सूरदास के वैशिष्ट्य को उभारा। सूरदास के ऊपर पुस्तक लिखने का उपक्रम शुक्ल जी ने किया था, लेकिन देहावसान के कारण यह कार्य पूर्ण न हो सका। इसके दो अध्याय 'भक्ति का विकास' और 'श्री बल्लभाचार्य', ही वे लिख पाये थे। इन दोनों अध्यायों के साथ 'काव्य में लोकमंगल' निबन्ध तथा उनके इतिहास में सूरदास का जीवनवृत्त लेकर विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के सम्पादकत्व में नागरी प्रचारिणी सभा ने 1943 में 'सूरदास' का प्रकाशन किया है।

द्विवेदी युग में जहां देव, बिहारी को श्रृंगार रस का सबसे बड़ा कवि माना गया, वहीं आचार्य शुक्ल ने इससे उलट यह स्थान सूरदास को दिया है। सूरदास को वात्सल्य और श्रृंगार का कवि मानते हुए शुक्ल जी ने सूरदास के वात्सल्य वर्णन को तुलसीदास बल्कि पूरे हिन्दी साहित्य से श्रेष्ठ माना। श्रृंगार वर्णन के क्रम में शुक्ल जी ने सूरदास के संयोग और वियोग दोनों पक्षों की गहरी मीमांसा की है।

लोक संस्कृति से जुड़ाव के कारण आचार्य शुक्ल ने सूरदास के श्रृंगार वर्णन को रीतिकालीन श्रृंगार वर्णन से श्रेष्ठ माना। आचार्य शुक्ल लिखते हैं "प्रेम नाम की

मनोवृत्ति का जैसा विस्तृत और पूर्ण परिज्ञान सूर को था, वैसा और किसी कवि को नहीं। इनका सारा संयोग वर्णन लम्बी–चौडी प्रेमचर्या है जिसमें आनन्दोल्लास के न जाने कितने स्वरूपों का विधान है। रासलीला दानलीला, मानलीला इत्यादि सब उसी के अन्तर्भूत हैं। पीछे देव कवि ने एक 'अष्टयाम' रचकर प्रेम चर्चा दिखाने का प्रयत्न किया, पर वह अधिकार एक घर के भीतर के भोग–विलास की कृत्रिम दिनचर्या के रूप में है। उसमें न तो अनेक रूपता है न प्राकृतिक जीवन की वह उमंग।"[90] 'वियोग वर्णन' में सूरदास के विस्तार–स्थल' को महत्वपूर्ण मानते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं "विरह वर्णन भी बैरिन भई रतियां और सापिन भई सेजियां, तक ही न रहकर प्रकृति के खुले क्षेत्र के बीच दूर–दूर तक पहुंचता है।"[91] द्विवेदी युग में जहां रीतिवादी आलोचकों ने काव्य कलाधरों में केशव, देव बिहारी को श्रेष्ठ माना वहीं आचार्य शुक्ल ने सूर, तुलसी, जायसी के भाव पक्ष और कला पक्ष का विस्तृत विवेचन कर उक्त मान्यता को असत्य सिद्ध कर दिया। सूरदास के कवि रूप की दो विशेषताओं (वाग्विदग्धता और नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना क्षमता) का उल्लेख करते हुए आचार्य शुक्ल का मानना है कि "किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढ़े–सीधे ढंग उन्हें मालूम है"[92] और "सूर की प्रकृति कुछ क्रीड़ाशील थी तथापि उनकी वाग्विदग्धता प्रायः भाव प्रेरित है। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण उनका भ्रमरगीत है जिसमें गोपिकाएं अपनी वाग्विदग्धता के बल पर ही उद्धव को निरूत्तर कर देती हैं। यह वाग्विदग्धता रसात्मक है, कोरी वचन चातुरी नहीं।"[93] नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना में सूर, तुलसीदास से श्रेष्ठ हैं।

सूरदास के भाषा वैशिष्ट्य को उभारते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "सूर में चलती भाषा की कोमलता है, वृत्ति विधान और अनुप्रास की ओर झुकाव कम है।"[94] भाषा विवेचन के क्रम में ही आचार्य शुक्ल ने सूरदास द्वारा तुलसीदास जैसी भाषा न लिख पाने का कारण उनकी जीवनगत परिस्थितियां को माना "अंधे होने के कारण लिखे पदों को सामने रखकर काटने–छांटने या हरताल लगाने का उन्हें वैसा मौका न था जैसा तुलसीदास को।"[95] अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में जो मूल रूप से हिन्दी शब्द सागर की भूमिका है और जिसे 'हिन्दी साहित्य का विकास' नाम से लिखा गया था– आचार्य शुक्ल ने कहा है कि" जबकि प्रत्येक देश

का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता जाता है।"[96] चित्तवृत्ति' से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य 'भाव' से है। 'भाव' या 'रस' के आधार पर ही आचार्य शुक्ल ने कवियों के अन्तःकरण की छानबीन की है। 'भाव' या 'रस' हीन होने के कारण ही आचार्य शुक्ल ने सिद्धों नाथों के साहित्य को शुष्क, नीरस मानकर उसे साहित्य की कोटि में नहीं रखा, रीतिकालीन साहित्य को जनता से कटा हुआ दरबारी संस्कृति का पोषक माना।

द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना में नैतिकता के साथ–साथ तुलनात्मक प्रवृत्ति का जोर था। आचार्य शुक्ल मे भी इसे परिलक्षित किया जा सकता है। लेकिन किसी भी कवि को 'हीन' या 'श्रेष्ठ' बताने के क्रम में शुक्ल जी ने रीतिवादी प्रवृत्ति का सहारा नहीं लिया है। वैज्ञानिक तरीके से, तथ्यों के आधार पर ही अपना निर्णय दिया है। जैसे तुलसीदास की कविता को श्रेष्ठ मानते हुए भी वह तुलसी के 'स्त्री प्रसंग' को युगानुरूप नहीं मानते और जायसी में इसी प्रसंग को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। सूर के वियोग वर्णन को श्रेष्ठ मानते हुए भी उसे 'लोक से परे' मानते हैं। सन्तकाव्य को अस्वीकार करने के बावजूद 'कबीर' की महत्ता को रेखांकित करते हैं। दरबारी संस्कृति से युक्त रीतिकालीन कविता में केशव के संवाद योजना को तुलसी से श्रेष्ठ मानते हैं। घनानन्द की भाषा को ब्रजभाषा की श्रेष्ठ परम्परा बताते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं "प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ है।"[97] घनानन्द की लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग वैचित्र्य को महत्व देते हुए इसे आधुनिक काल के कवि जयशंकर प्रसाद में भी लक्षित करते हैं। आचार्य शुक्ल ने अपनी रसग्राही, मर्मोद्घाटक बुद्धि से तुलसी के लोकवादी, सूर के जीवनोत्सव तथा जायसी के 'प्रेम की पीर' को पहचाना।

आचार्य शुक्ल ने जहां 'हिन्दी आलोचना' को सुसंगत वैज्ञानिक दृष्टिकोण से निर्मित किया, उसी तरह अपनी आलोचकीय भाषा का भी निर्माण किया। भारतीय काव्यशास्त्र के साथ–साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र से शब्द लेकर उसका शोधन किया, वहीं जहां कहीं शास्त्र का सहारा नहीं मिला तो नये शब्दों का गढ़न भी किया।

पांडित्यपूर्ण होने के बावजूद, हास्य, व्यंग्य का पुट लेकर, सब कुछ साफ–साफ तार्किक तरीके से कहने की पक्षपाती है आचार्य शुक्ल की भाषा।

इन सारी विशेषताओं के बावजूद आचार्य शुक्ल ने 'छायावाद' के विवेचन में दूरदर्शिता नहीं दिखाई। छायावाद उन्हें विदेशी भाव–युक्त, रहस्यवादी अभिव्यक्ति की कविता लगी। जिसके चलते उन्होंने छायावाद को हिन्दी की स्वतः निर्मित काव्यधारा नहीं माना। फिर भी आचार्य शुक्ल का 'हिन्दी आलोचना' को निर्मित करने, उसे वैज्ञानिक तार्किक विश्लेषणात्मक बनाने में महत्वपूर्ण योगदान है। डॉ० रामविलाश शर्मा, आचार्य शुक्ल का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं "हिन्दी साहित्य में शुक्ल जी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचन्द्र या कवि निराला का। उन्होंने आलोचना के माध्यम से उसी सामन्ती संस्कृति का विरोध किया जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचन्द्र और निराला ने।"[98]

(ज) प्राध्यापकीय आलोचना

बाबू श्याम सुन्दर दास

शिक्षा के बढते प्रचार–प्रसार से उच्च कक्षाओं में हिन्दी साहित्य में स्तरीय सामग्री की जरूरत को पूरा कराने का श्रेय बाबू श्याम सुन्दर दास को है। आलोचना की एक नई शैली जिसे व्यंग्य में 'प्राध्यापकीय आलोचना' कहा जाता है को आरम्भ करते हुए बाबू श्याम सुन्दर दास ने कई स्तरीय आलोचनात्मक ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन किया।

बाबू श्याम सुन्दर दास की आलोचना में वह गहराई नहीं है जैसी शुक्ल की आलोचना में है। लेकिन तार्किक उदारग्रहिता बहुत अधिक है। तार्किक उदारता इस अर्थ में कि बाबूसाहब ने प्राचीनता के प्रति अतिरिक्त अनुग्रह रखने के बावजूद नये भाव बोधों की उपेक्षा नहीं की है।

बाबू श्याम सुन्दर दास ने काव्य को कला के अन्तर्गत स्वीकार कर कला और अभिव्यंजना, कला और मन, कला और प्रकृति, कला और आचार जैसे नये

विषयों को पाश्चात्य धारण के साथ भारतीय शास्त्रीय परम्परा से मिलाने का प्रयत्न किया है। साहित्य पर पडने वाले प्रभावों में साहित्यकार का प्रभाव प्रमुख होता है, ऐसी मान्यता बाबू साहब ने कई बार व्यक्त की है। "साहित्यकार जो कुछ लिखता है उस पर उसके विचारो और मनोभावों की अटल छाप रहती है। वह मनुष्य मात्र की आकांक्षाओ, इच्छाओं और भावनाओं को प्रकट करता है। किन्तु वह इन सबको अपने ढंग से स्वरूप देकर अपनी रुचि के अनुसार उपस्थित करता है।"[99]

'कबीर ग्रन्थावली' की प्रस्तावना में बाबू श्याम सुन्दर दास ने कबीर का महत्वपूर्ण विवेचन किया है। इस प्रस्तावना में जहां कबीर के सिद्धान्तों, उपदेशों को उनके व्यक्तित्व का अंग मानते हुए उसे मंगलकारी सिद्ध करने का प्रयत्न है, वहीं पहले–पहल शुक्ल जी द्वारा लगाये आक्षेपों का उत्तर देने का भी प्रयास है। 'हिन्दी साहित्य' में हिन्दी साहित्य के इतिहास के विवेचन क्रम में कहीं–कहीं बाबू श्याम सुन्दर दास ने शुक्ल जी से मतान्तर भी व्यक्त किया है। साथ ही कबीर आदि निर्गुण कवियों के साथ–साथ 'छायावाद' पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया है।

वस्तुतः प्राध्यापकीय आलोचना 'यह भी सही वह भी सही' के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण जीवन्त आलोचना नही बन पाती यही बाबू साहब के साथ भी हुआ।

(झ) छायावादी कवि आलोचक

'छायावाद' के ऊपर शुक्ल जी सहित तमाम आलोचकों ने सहानुभूतिपूर्वक विचार नहीं किया। 'छायावाद' के कवियों ने स्वयं पहल करते हुए अपनी कविताओं, विचारों को व्याख्यायित करने का यत्न किया। 'नये प्रतिमानों' की वकालत करते हुए इन कवि आलोचको न सिर्फ पुराने साहित्यिक मानदण्डों का विरोध किया बल्कि नये–मूल्यों के प्रश्न पर आचार्य द्विवेदी, आचार्य शुक्ल से टक्कर भी ली। 1926 में प्रकाशित 'पल्लव' कविता संग्रह के 'प्रवेश' में पन्त जी ने नये सृजन का ही नहीं, आलोचना के नये प्रतिमानों की वकालत भी की। पन्त जी ने साफ–साफ लिखा है कि "हिन्दी में सत्समालोचना का बड़ा अभाव है। रस गंगाधर काव्यादर्श आदि की

वीणा के तार पुराने हो गये, वे स्थायी, संचार, व्यभिचारी आदि भावों का जो कुछ सचार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे, करवा चुके। जब तक समालोचना का समयानुकूल रूपान्तर न हो, वह विश्व भारती के आधुनिक विकसित तथा परिष्कृत स्वरों मे न अनुवादित हो जाय, तब तक हिन्दी में सत्साहित्य की सृष्टि भी नहीं हो सकती।''[100]

रहस्यवाद तथा उससे जुड़े प्रश्नों को लेकर जयशंकर प्रसाद, शुक्ल जी से टकराते हैं तो पन्त की टक्कर 'सुकवि किंकर' महावीर प्रसाद द्विवेदी होती है, निराला भी साहित्य की नवीन प्रगति पर सुकवि किंकर से टकराते हैं। एक तरफ इन कवियों की टक्कर साहित्य के बडे आलोचकों से हो रही थी तो दूसरी तरफ स्वयं आपस में भी वैचारिक युद्ध हो रहा था। 'पल्लव' में पन्त ने निराला के 'छन्दों के बारे में विचार से' मतभेद व्यक्त किया तो निराला ने 'पन्त और पल्लव' लेख माला में पन्त की कविताओं की आलोचना की। व्यक्तिगत वैचारिक मतभेद के बावजूद इन सभी कवि आलोचकों ने परम्परा से चली आती समीक्षा की प्रणाली को बदलने का आग्रह किया। पन्त ने जहां 'रसवाद' को निरर्थक सिद्ध करने का प्रयास किया, वहीं प्रसाद ने दार्शनिक धरातल पर संस्कृति और परम्परा से इसका जुडाव तर्कसम्मत व्याख्या करके जोडा।

शिल्प की दृष्टि से इन्होंने रीतिकालीन मानदण्डों के बजाय एक नये शिल्पबोध की आवश्यकता पर बल दिया। पल्लव में पन्त का 'काव्य भाषा' विषयक विश्लेषण इसका प्रमाण है। पन्त और निराला की छन्द विषयक मान्यता भी इसी से संदर्भित है। तात्पर्य यह कि ये कवि 'वस्तु और रूप' दोनों ही स्तरों पर एक नये काव्य बोध की आवश्यकता का प्रयत्न कर रहे थे, और अपने समसामयिक अनुरोधों की दृष्टि से अपने काव्य की व्याख्या और अपना पक्ष समर्थन भी करते जाते थे। पन्त की काव्य भाषा, निराला की अर्थ मीमांसा, प्रसाद के द्वारा 'छायावाद और यथार्थवाद' का सम्बन्ध निरुपण, प्रगतिवाद के सन्दर्भ में महादेवी का छायावाद का समर्थन इसी प्रयास के तहत हैं।

सच तो यह है कि ये कवि न तो पेशेवर आलोचक ही थे और न ही इन्होंने समीक्षा मुख्य कर्म के रूप में की। छायावाद के उपर लगे आरोपों का जबाब देने का प्रयास ही इन कवियो ने किया है। इस कार्य में उन्होंने कुछ मौलिक प्रयास भी किये है जिससे न सिर्फ 'हिन्दी आलोचना' समृद्ध होती है, बल्कि आलोचना को नयी दिशा दृष्टि भी मिलती है। गद्य को जीवन संग्राम की भाषा' का आग्रह निराला ने किया तो प्रसाद ने 'रहस्यवाद' को भारतीय चिंतनधारा से जोड़ा जिससे छायावाद के रहस्यवाद पर लगे आरोपों को बहुत कुछ निराकरण हो जाता है तो महादेवी वर्मा ने गीत विषयक निबन्ध मे लोकगीतो के आधार गीतकाव्य की विशेषताएं बतायी और छायावाद को प्रगतिशील आन्दोलन के प्रकाश में 'सामाजिक यथार्थवादी' माना।

(ञ) प्रभाववादी आलोचना

शांतिप्रिय द्विवेदी

प्रभाववादी आलोचक शांति प्रिय द्विवेदी ने छायावादी काव्य को लेकर जो समीक्षा प्रस्तुत की है, उसकी भाषा शैली भी छायावादी ढंग की है, लेकिन विचारक्रम में वे छायावाद की विशेषता के साथ–साथ उसकी सीमा रेखा भी बताते चलते हैं। इससे यह आभासित होता है कि वे 'छायावाद' को उसके सम्पूर्ण मनोभूमि में समझने का प्रयत्न करते हैं। 'छायावाद' को तत्कालीन राजनीतिक पृष्ठभूमि में रखकर उस पर गांधी के प्रभाव को लक्षित करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि "गांधीवाद के साहित्यकार प्रेमचन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण और जैनेन्द्र तथा छायावाद के कलाकार प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी ये सब एक ही परिवार की प्रजाएं है, इनमें शिल्पभेद है, मनोभेद नहीं।"[101] यही नहीं द्विवेदी जी को छायावाद की पृष्ठभूमि हिन्दी की अपनी ही भूमि लगी। किसी विदेशी या बंगाली संस्करण की नहीं। आधुनिक काल की खड़ी बोली के प्रारम्भिक काल से छायावाद को जोड़ते हुए द्विवेदी जी ने लिखा "भारतेन्दु युग से लेकर छायावाद युग तक एक ही मनोजगत का उत्तरोत्तर विकास है क्योंकि इनका सांस्कृतिक धरातल एक है।"[102]

छायावाद तक आते–आते भारत की सामाजिक स्थिति ऊपर से कुछ बदल सी गयी थी। नयी चेतना की आंधी से लगता था कि मध्य कालीन पृष्ठभूमि से इतर नये भारत का उदय हो रहा है। लेकिन अन्दर से अब भी वही स्थिति थी। फर्क इतना था कि पहले सामंतवादी प्रवृत्ति थी तो अब साम्राज्यवादी मानसिकता। लेकिन परिवर्तन कोई खास नही। छायावादी काव्य भाषा को ब्रजभाषा से जोडने की कड़ी में द्विवेदी जी का मंतव्य था कि "ब्रजभाषा के समय यदि सामन्तवादी सामाजिक वातावरण था, तो छायावाद काल मे पूँजीवादी सामाजिक वातावरण। दोनों में अन्तर केवल अतीत और वर्तमान साम्राज्यवाद का है। मूलतः दोनों की विषम सामाजिक व्यवस्था एक सी है।"[103] शांतिप्रिय द्विवेदी जी ने आचार्य शुक्ल के उन पक्षों पर प्रकाश डाला है, जिसके चलते आचार्य शुक्ल को लेकर नये आलोचकों ने काफी होहल्ला मचाया है। 'शुक्ल जी का कृतित्व' निबन्ध में विस्तार से द्विवेदी जी ने शुक्ल जी के रहस्यवाद, लोकवाद, छायावाद, समाजवाद सम्बन्धी विचारों की परीक्षा की है। अंततः वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि "उनकी आधुनिकता काव्य के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में है। उनका वैज्ञानिक विश्लेषण अंग्रेजी ढंग का है। रीतिकाल की अपेक्षा नवीन और अति आधुनिक काल की अपेक्षा प्राचीन। यों कहें वे रीतिकाल के नव्यतम भाष्यकार हैं।"[104]

शुक्ल जी कविता में वस्तुपक्ष और लोकपक्ष पर अधिक ध्यान देते थे जिसके चलते काव्य के भावपक्ष और व्यक्ति पक्ष की उपेक्षा सी हो जाती थी इसी दृष्टिकोण के कारण वे 'छायावाद' के साथ न्याय नहीं कर पाये। उनकी इसी तथाकथित कमजोरी को लक्ष्य करके शांतिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है "व्यक्तिगत पक्ष में शुक्ल जी जैसे सूक्ष्म अनुभूति को छोड़ गये हैं वैसे ही मधुर अनुभूति को भी। जीवन और कला में शील और शक्ति को तो वे देख सके, किन्तु माधुर्य को ओझल कर गये। हां, सौन्दर्य का प्रयोग उन्होंने कर्म में किया है, संज्ञा में नहीं। सौन्दर्य कर्मवाचक होने के कारण वह शील और शक्ति में अन्तर्भूत हो गया उसका निजी व्यक्तित्व (सुन्दर) नहीं रह गया।"[105]

मूलतः उत्तर छायावाद काल के आलोचक शांतिप्रिय द्विवेदी ने न सिर्फ <u>छायावाद को उसके सम्पूर्ण कलेवर में समझा बल्कि उसके सम्बन्धों को हिन्दी</u>

साहित्य की मूल धारा से जोडा। इसी क्रम में उनकी शैली बहुत कुछ स्वानुभूति के कारण प्रभावीव्यंजक सी हो गयी है। स्वयं द्विवेदी जी का मानना है कि प्रभाविक आलोचना द्वारा आलोचना में अनुभूति का परिचय मिलता है। अनुभूति के लिए रसज्ञता नहीं रसार्द्रता भी चाहिए। सच तो यह है कि अपनी इसी भावना प्रधान आलोचकीय दृष्टि के कारण द्विवेदी जी की आलोचना में वह तेजस्विता, तीक्ष्णता नहीं मिलती, जिनकी पहचान शुक्ल जी करा गये थे।

(ट) आचार्य शुक्ल की आलोचना परम्परा

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और अन्य

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना की जो दिशा, विकास क्रम की दृष्टि से वह आगे दो धाराओं में विभाजित हो गई। पहली धारा के आलोचकों ने आचार्य शुक्ल की मान्यताओं से अपनी सहमति रखते हुए उसे उसी रूप में स्वीकार कर लिया और उसी परम्परा को विकसित करते रहे। दूसरी धारा के आलोचकों ने अपनी आलोचना पद्धति को शुक्ल जी की तरह उसी दृढ़ता, आत्मविश्वास, गंभीर चिंतन से विकसित किया पर इसी क्रम में उनका आचार्य शुक्ल से सैद्धान्तिक मतभेद भी स्पष्ट हो जाता है। मौलिक उद्‌भावनाओं, नवीन व्याख्याओं के कारण उनकी विचार दृष्टि शुक्ल जी के विपरीत हो चली। पहली धारा के अन्तर्गत आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, गुलाबराय, लक्ष्मी नारायण सुधांशु, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, कृष्ण शंकर शुक्ल, केसरी नारायण शुक्ल और सत्येन्द्र आदि आलोचक आते हैं तो दूसरी धारा नन्द दुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र की त्रयी के साथ–साथ मार्क्सवादी विचारधारा के अन्तर्गत आने वाले तमाम आलोचकों की है।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिकाल के उपर विचार–विमर्श किया है। इन्होंने ऐसी कोई मौलिक उद्‌भावना नहीं की है जिससे रीतिकालीन साहित्य को नये रूप मे जाना पहचाना जा सके। साहित्य को 'रसवाद' के अन्तर्गत स्वीकार कर रस तथा अन्य काव्य सम्प्रदायों को पुराने लक्षण ग्रन्थों के आधार ही मूल्यांकित किया। रसों के सम्बन्ध में शुक्ल जी के जो विचार थे, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उसे स्वीकार

करते हुए लिखा ''शास्त्रों में अलौकिक या 'ब्रह्मानन्द सहोदर' शब्द केवल रसानुभूति की स्थिति और प्रक्रिया समझाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं उसे प्रत्याक्षानुभूति से एकदम पृथक घोषित करने के लिए नहीं।''[106] तात्पर्य यह कि मिश्र जी ने भी रस को 'सुख–दुख' के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

'इतिहास' के विवेचन क्रम में 'रीतिकाल' को श्रृंगार काल' नाम देकर मिश्र जी ने इस काल की प्रवृत्तियों के स्वरूपों, उनके उद्‌गम स्रोतों की विस्तृत खोज की। इसी विश्लेषण क्रम में कविताओं का मार्मिक विश्लेषण भी उन्होंने किया है।

मिश्र जी ने 'श्रृंगार काल' को मुख्यतः तीन प्रवृत्तियां स्वीकार की है। (1) रीतियुक्त (2) रीतिसिद्ध (3) रीतिमुक्त। रीतियुक्त कविता में कवि किसी नये पथ पर न चलकर बनी–बनायी पद्धति का ही अनुसरण करता है,उसकी शैली और वस्तु दोनों ही परम्पराबद्ध रही है। रस, अलंकार, नायिका भेद आदि के लक्षणों के हेतु ही कवियों ने कविता की है जिससे इनका काव्य सौन्दर्य नहीं उभर पाता। रीतिसिद्ध कवियों की श्रेणी मे मिश्र जी ने उनकी कविता रखी है जिन्होंने रीतिबद्ध कवियों की भांति परम्पराबद्ध होते हुए भी उनकी अपेक्षा कुछ मुक्त कविता क़रते हैं। इन कवियों ने लक्षण और लक्ष्य से अलग लक्ष्य निर्माण का प्रयत्न किया। रीतिसिद्ध इसलिए हैं कि इन्होंने लक्षण न देकर, लक्ष्य निर्माण की प्रवृत्ति न रखते हुए भी ये अपने ध्यान में लक्षणों को अवश्य रखते हैं। रीति मुक्त कवि इन दोनों कोटियों के कवि से अधिक स्वच्छन्द हैं, उन्होंने न तो कोई लक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास किया, न ही उन्हें ध्यान में रखा। ये 'हृदय की पुकार' पर कविता लिखते थे। इसीलिए इनकी कविता में सच्ची अनुभूति को महसूस किया जा सकता है। रीतिकाल की परम्परा को मिश्र जी अपने विवेचन में प्राकृत, अपभ्रंश तक ले जाते हैं। लेकिन वे इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाते कि किस तरह से प्राकृत अपभ्रंश की श्रृंगारी कविता, रीतिकाल की श्रृंगारी कविता से जुड़ती है।

मिश्र जी ने मुक्तकों, सतसइयों आदि की परम्परा का अवलोकन कर आर्य सप्तशती, गााथा सप्तशती और अमरूक शतक आदि ग्रंथों का विशद विचार विमर्श

कर इस परम्परा को बिहारी से जोडा। साथ ही रीतिकाल की कविता पर पडे बाहरी प्रभाव के रूप में फारसी काव्यधारा से भी इस काल को जोडा।

द्विवेदी युग में तुलनात्मक समीक्षकों ने बिहारी, देव, केशव पर काफी विस्तृत समीक्षाएं प्रस्तुत की थी। मिश्र जी ने अपने को इन सबसे अलगाते हुए अपनी आलोचना दृष्टि में गाभीर्यता के साथ–साथ कविताओं की व्याख्याओं तक को ही केन्द्र में रखा। मिश्र जी की आलोचना में कहीं भी प्रभावात्मकता, राग–द्वेष या निर्णयात्मकता पद्धति का अनुसरण नहीं है। बिहारी, भूषण, घनानन्द पर इन्होंने विस्तृत समीक्षा लिखने के क्रम में जीवन परिचय के साथ–साथ कवि की विशेषताओं को बडे ही मार्मिक तरीके से व्याख्यायित किया है और उस कमी को पूरा करने का प्रयास किया जिसके अभाव में 'रीतिकालीन कविता' को समझना मुश्किल सा है।

बाबू गुलाबराय और लक्ष्मी नारायण सुधांशु ने साहित्य सिद्धान्तों को अपने विवेक से जांचा परखा। दोनों ही शुक्ल जी का अनुगमन करते से जान पड़ते हैं, लेकिन कहीं–कही उनसे मत–मतान्तर भी है। बाबू गुलाब राय मूलतः समन्वयवादी आलोचक रहे हैं। इनकी आलोचना में फैलाव तो अधिक है, लेकिन विचारों की मौलिकता नहीं। इन्होंने यहां वहां से, पूर्वी पश्चिमी विचारकों से लम्बे–लम्बे उद्धरण लेकर उनके समन्वय को महत्व दिया। जिसके चलते ये सतही आलोचक से जान पड़ते हैं। 'काव्य के रूप' और 'सिद्धान्त और अध्ययन' में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है।

लक्ष्मी नारायण सुधांशु ने 'रसवादी' होते हुए भी 'काव्य में अभिव्यंजना' के विविधि सौन्दर्यों पर विवेचन किया है। इनकी आलोचना पद्धति शुक्ल जी का अनुसरण करते हुए भी कुछ मौलिक उद्‌भावनाओं पर भी ध्यान केन्द्रित करती है पर इनकी आलोचना में गहराई की व्याप्ति नहीं है। 'जीवन के तत्व और काव्य' में इन्होंने विस्तार से जीवन के विविध तत्वों का काव्य के सिद्धान्तों से तालमेल बैठाने का प्रयास किया।

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का महत्व इस बात को लेकर है कि इन्होंने कहानी के शिल्प पक्ष पर विशद विवेचना की है। हिन्दी में ऐसा पहली बार हुआ है। 'कहानी'

विधा के शिल्प पर विचार क्रम मे शर्मा जी ने पूर्वी, पश्चिमी विचारकों के आलोक में अपने इस काम को पूरा किया। प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय पद्धति से भी इन्होंने अध्ययन किया है।

इसी परम्परा को आगे बढाने का स्तुत्य कार्य कृष्ण शंकर शुक्ल ने 'केशव' को लेकर किया है। केशव के उपर कृष्ण शंकर शुक्ल ने जो विचार किया है उसका सूत्र रूप शुक्ल जी में मिलता है।

केसरी नारायण शुक्ल की आलोचना दृष्टि अपने समकालीन परम्परायुक्त आलोचकों की अपेक्षा अधिक सामजिक रही है। 'आधुनिक काव्यधारा' में केसरी जी ने काव्य के स्वरूप को निर्मित करने वाली अनेक चेतनाओं का विश्लेषण किया है।

सत्येन्द्र ने 'गुप्तजी कला, की प्रेमचन्द्र और उनकी कहानी कला, ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, हिन्दी एकांकी साहित्य की झांकी के साथ–साथ' समीक्षा के सिद्धान्त' आलोचकीय पुस्तकें लिखी हैं। अपने आलोचकीय दृष्टि में ये कुछ अधिक मौलिक नवीन से लगते हैं लेकिन परम्परा की दृष्टि से शुक्ल जी की ही परम्परा के आलोचक जान पड़ते हैं।

(ठ) शुक्लोत्तर आलोचना-त्रयी

नन्द दुलारे वाजपेयी

शुक्ल जी के छायावाद सम्बन्धी विचार के विरोध में छायावादी कवि स्वयं ही आलोचना क्षेत्र में उतर पडे थे, लेकिन मूलतः वे कवि ही थे आलोचक नहीं। शांतिप्रिय द्विवेदी ने अवश्य ही इस क्षेत्र में कुछ अलग कार्य किया और 'छायावाद' को हिन्दी परम्परा से जोड़ा। लेकिन शुक्ल जी के साथ सैद्धान्तिक स्तर पर पहली बार टकराहट उनके यशस्वी शिष्य नन्द दुलारे वाजपेयी से होती है। शुक्लोत्तर समीक्षा के मूल्यांकन में वाजपेयी जी का कहना है कि "शुक्ल जी की अपेक्षा नई समीक्षा में साहित्य के ऐतिहासिक विकास और सामाजिक प्रेरणा शक्तियों, शैली, भेदो और कला स्वरूपों की परख अधिक व्यापक और मार्मिक है, इसमें सन्देह नहीं।

शुक्ल जी की नैतिक और बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा नये समीक्षकों की सौन्दर्य अनुभूति और कला–प्रधान दृष्टि एक निश्चित प्रगति है।"[107]

वाजपेयी जी को शुक्ल जी से शिकायत थी कि "प्रवृत्ति विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य विवेचन भी प्रबन्ध कथानक और जीवन–सौन्दर्य के व्यक्त रूपों का आग्रह करने के कारण सर्वांगीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सास्कृतिक जटिलताओं का विवेचन और उनसे होकर बहने वाली काव्यधारा का आकलन हम शुक्ल जी में नहीं पाते।"[108] अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वाजपेयी जी ने शुक्ल जी के 'छायावाद' सम्बन्धी दृष्टिकोण से असहमति व्यक्त की। लेकिन किसी से असहमत होना एक बात है और अपनी असहमति के लिए समीक्षा मानदण्ड को निर्धारित करना दूसरी बात। वाजपेयी जी ने 'छायावाद' के सम्बन्ध में अपने लिए जो मानदण्ड निर्धारित किये उसके लिए उन्होंने साहित्येतर मानदण्डों का इस्तेमाल नहीं किया स्वयं छायावादी कविता से ही अपने लिए मानदण्ड निर्धारित किये। वाजपेयी जी के अनुसार "प्रसाद के 'ऑसू' की मार्मिक पंक्तियां, निराला की 'तुम और मैं', 'जूही की कली' और अन्य अनेक रचनायें तथा पल्लव के बहुत से प्रगीत विशिष्टता का प्रतिमान बनकर मेरे समक्ष आए थे। मेरा कार्य केवल विवेचन और व्याख्या करना था।"[109]

अपने बनाये इसी प्रतिमानों को वाजपेयी ने थोड़ा हेर–फेर के साथ कही–कहीं दुहरे मानदण्डों के इस्तेमाल से 'छायावाद' से लेकर 'नयी कविता' तक अपनी विचार दृष्टि से उसके सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आधुनिक भाव बोध को जांचा परखा। वाजपेयी जी ने काव्य में जीवन चेतना, नैतिकता आदि से ऊँचा स्थान 'काव्य सौष्ठव' को दिया है।

वाजपेयी जी ने छायावाद को स्वतन्त्रता आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति माना। "नई छायावादी काव्यधारा का भी एक अध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह

सकते हैं।''[110] भारतीय सन्दर्भ में छायावाद का विवेचन करने के क्रम में वाजपेयी जी भी उसमें 'विदेशी प्रभाव' को लक्षित करते हैं ''किसी हद तक यह नया 'कला आन्दोलन' जो हिन्दी साहित्य में छायावाद के नाम से प्रसिद्ध है, यूरोप के सुप्रसिद्ध रोमांटिक या स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन से समानता रखता है।''[111] शुक्ल जी भी छायावाद को पाश्चात्य शैली का अनुकरण मानते हैं और लगभग यही समानता वाजपेयी जी स्वीकार करते हैं, तो टकराहट कहां होती है ? टकराहट की पृष्ठभूमि है छायावाद की भावभूमि। शुक्लजी ने छायावाद को शैलीमात्र माना है, लेकिन वाजपेयी जी इससे सहमत नहीं है। वाजपेयी जी छायावाद को रीतिकालीन काव्य के विरोध में स्वीकार करते हैं। ''छायावाद का आरम्भ मध्यकालीन, रीतिकाव्य के आत्यंतिक विरोध में हुआ था। न केवल रचना शैली में वरन् नवीन जीवन दृष्टि और उसकी भावना कल्पना में छायावाद के कवियों ने वैयक्तिक अनुभूति को मुख्य साधन माना था जबकि गुप्त जी के पदों में पौराणिक भावना और संस्कार तथा रीतिबद्ध वर्णन शैली का प्रभाव विद्यमान है।''[112]

वस्तुतः शुक्ल जी ने जिस 'छायावाद' को शैली मात्र मानकर उस पर पाश्चात्य अनुकरण का ठप्पा लगा दिया था को वाजपेयी जी ने हिन्दी की जातीय परम्परा का विकसित रूप मानकर उसकी पृष्ठभूमि को हिन्दी भाषी माना।

छायावाद के प्रमुख स्तंभ 'जयशंकर प्रसाद' पर वाजपेयी जी ने अनेक निबन्ध लिखे। जिसमें प्रसाद साहित्य की पूरी समीक्षा ही हो गयी। 'कामायनी' को लेकर भी शुक्ल जी से वाजपेयी जी असहमत होते हैं। शुक्ल जी ने कामायनी को एकांगी काव्य मानते हुए लिखा है कि ''जिस सम्बन्ध का पक्ष कवि ने अन्त में सामने रखा है, उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रकृति के कारण काव्य के भीतर नहीं होने पाया है। पहले कवि ने कर्म को बुद्धि या ज्ञान की प्रवृत्ति के रूप में दिखाया, फिर अन्त में कर्म और ज्ञान के बिन्दुओं को अलग–अलग रखा।''[113]

नन्द दुलारे वाजपेयी का मानना है कि प्रसाद ने कामायनी में ''मानवीय प्रकृति के मूल मनोभावों की बडी सूक्ष्म दृष्टि से पहचानकर संग्रह किया है। यह मनु और कामायनी की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक

विकास में सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है। यही नहीं, यदि हम और गहरे पैठे तो मानव प्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक भी इसमें मिलेगी। आख्यात्मिकता और व्यावहारिक तथ्यों के बीच संतुलन स्थापित करने की सर्वप्रथम चेष्टा इस काव्य मे की गई है।"[114]

नन्द दुलारे वाजपेयी ने न सिर्फ 'छायावाद' को अपना आलोचना केन्द्र बनाया। बल्कि प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद पर भी अपना विवेचन प्रस्तुत किया है। साथ ही उपन्यास, कहानी, नाटक के साथ ही मध्यकालीन कवि सूरदास पर भी विवेचन किया। वाजपेयी जी की आलोचना कितनी गंभीर थी इस बात का पता चलता है रत्नाकर के विवेचन में। खडी बोली की परम्परा से अलग ब्रजभाषी कवि रत्नाकर को आधुनिक काल के युग से जोडते हुए भी वाजपेयी जी की टिप्पणी "विगत युग के संस्कारों की स्थापना नव्यतर युग में करना निर्सगतः एक कृत्रिम प्रयास है। वह काव्य सुशोभन और गौरवास्पद हो सकता है, किन्तु वह युग का अनिवार्य काव्य नहीं हो सकता।"[115]

आचार्य शुक्ल के साथ–साथ वाजपेयी जी की टकराहट प्रेमचन्द्र से उनके 'आत्मकथा' को लेकर हुई। वाजपेयी जी ने अपने पत्र 'भारत' में प्रेमचन्द्र के उपन्यासों के बारे में टिप्पणी की कि "प्रेमचन्द्र जी के उपन्यास उनकी प्रोपेगेंडा वृत्ति के कारण काफी बदनाम है और हिन्दी के बडे से बड़े समीक्षक ने उसकी शिकायत की है। प्रेमचन्द्र जी के सभी समीक्षक जानते हैं कि उनका सबसे बड़ा दोष जो उनकी साहित्य कला को कलुषित करने में समर्थ हुआ है वही प्रोपेगेंडा है।"[116]

प्रेमचन्द्र ने वाजपेयी जी को चुनौती देने के स्वर में कहा "अगर प्रोपैगैण्डा न हो, तो संसार में साहित्य की जरूरत न रहे। जो प्रोपैगैण्डा नहीं कर सकता, वह विचार शून्य है और उसे कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं। मैं उस प्रोपैगैण्डा को गर्व से स्वीकार करता हूँ।"[117] वस्तुतः यह टकराहट एक युग के दो विविध क्षेत्रों के साहित्य–मानिषियों की टकराहट है, जिससे समसामयिक साहित्य ही

नहीं समृद्ध होता है, बल्कि आलोचक, लेखक दोनों को ही अपनी सीमा का भी आभास होता है।

वाजपेयी जी की आलोचना में विरोधाभासी तत्वों का समावेश रहा है। जैसे–प्रगतिशील प्रवृत्तियों को वाजपेयी जी ने प्रयोगवादी प्रवृत्तियों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है। लेकिन कविता को उदाहरण स्वरूप जब प्रस्तुत करते हैं तो प्रयोगवादी और नयी कविताओं को। यह विरोधाभास उनकी आलोचना के परवर्तीकाल में अधिक मिलती है। धर्मयुग के तीन अंकों में 'नयी कविता एक पुनर्रीक्षण' नाम से वाजपेयी जी ने एक लेखमाला लिखी है, जिसमें उनके विरोधाभासी विचारों को अधिक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। निर्मला जैन ने वाजपेयी जी की इस स्थिति को ध्यान में रखकर लिखा है कि "इसे नये आलोचकों की पांत में बैठने का लोभ समझा जाय या सतत आत्मनिरीक्षक के परिणाम स्वरूप अपने मत में परिवर्तन और संशोधन की उदारता ?[118] इसी क्रम में आगे निर्मला जैन ने वाजपेयी जी के विचारों और समीक्षा कर्म में अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा "काव्य में वे 'वस्तु' तत्व को महत्व देते थे। समाजवादी विचारधारा को उन्होंने सर्टिफिकेट दिया था आज हिन्दी में श्रेष्ठ साहित्य के सृजन के कौन से क्षेत्र हैं ? निश्चय ही समाजवादी विचारों के क्षेत्र' (आधुनिक साहित्य) किन्तु उन्होंने यशपाल, राहुल नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि प्रगतिवादी लेखकों की एक भी समीक्षा न की।"[119]

वाजपेयी जी के समीक्षा कर्म में भले ही विरोधाभास लक्षित होता हो, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनके पास कोई साहित्यक मानदण्ड नहीं था। वाजपेयी जी का स्पष्ट मानना है कि "आलोचना, रचनात्मक साहित्य की प्रिय सखी शुभैषिणी, सेविका और सहृदय स्वामिनी कही जा सकती है।"[120]

यही नहीं अपने आलोचना सम्बन्धी दृष्टिकोण को उन्होंने सात सूत्रों में समझाने का प्रयास किया है जो निम्न हैः

1. रचना में कवि की अन्तर्वृत्तियों (मानसिक उत्कर्ष अपकर्ष) का अध्ययन।

2. रचना में कवि की मौलिकता शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता–विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन।

3 रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्ययांगों का अध्ययन।

4. समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन।

5 कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस विश्लेषण)

6. कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन

7. काव्य के जीवन सम्बन्धी सामजस्य और सन्देश का अध्ययन।[121]

वस्तुत· वाजपेयी जी के उपर्युक्त मानदण्डों के निर्धारण के कारक चाहे जो रहे हों, लेकिन इससे इनकी समीक्षा पद्धति को लेकर भ्रम ही अधिक फैला है। बावजूद इसके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद नन्द दुलारे वाजपेयी जी ही दूसरे महत्वपूर्ण आलोचक है, जिन्होंने हिन्दी आलोचना को नयी जमीन दी। उसे आधुनिकता का संस्पर्श देने के साथ–साथ जीवन और समाज के संदर्भ से साहित्य के मूल्यांकन करने का विशिष्ट व्याकरण दिया। यह अलग बात है कि 'तुलसी' की कविता को अपना आलोचना मानदण्ड स्वीकार करने के कारण शुक्ल जी 'छायावाद' के साथ न्याय नहीं कर पाये, उसी तरह 'छायावाद' के कविताओं को अपना आलोचना मानदण्ड स्वीकार करने के कारण परवर्ती काव्यधाराओं प्रगतिवाद प्रयोगवाद, के साथ नन्द दुलारे वाजपेयी न्याय नहीं कर पाये।

हजारी प्रसाद द्विवेदी

नन्द दुलारे वाजपेयी की टकराहट शुक्ल जी के 'छायावाद' सम्बन्धी विवेचन से होती है तो हजारी प्रसाद द्विवेदी की टकराहट शुक्ल जी के 'भक्तिकाल' सम्बन्धी विवेचन से। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्तिकाल के आविर्भाव को 'पराजित मानसिकता' या 'इस्लाम के प्रभाव' के रूप में न देखकर उसे भारतीय चिन्तन की

परम्परा से अनुस्यूत माना है और जोर देकर कहा है कि "अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का रूप बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"[122]

द्विवेदी जी ने जहां भक्ति साहित्य को सांस्कृतिक घटनाओं से जोड़कर एक लम्बी परम्परा का स्वाभाविक विकास माना, वहीं हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल को 'आदिकाल' नाम देकर इस काल के नामकरण की समस्या को सुलझा सा दिया। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने विवेचन क्रम में भक्तिकाल की ज्ञानमार्गी शाखा को कोई विशेष महत्व नहीं दिया लेकिन द्विवेदी जी ने अपने 'आलोचना कर्म' को इसी शाखा से जोड दिया।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के विवेचन क्रम में नाथ योगियों, सिद्धों की परम्परा के साथ–साथ कबीर पर पडे उनके प्रभाव, कबीर की सामाजिक स्थिति, कबीर का रहस्यवाद, निर्गुण राम की भक्ति कैसे संभव है? कबीर की वाणी, कविता आदि का तथ्यात्मक तरीके से प्रकाश डालने का अद्भूत प्रयास किया है। इस विवेचन क्रम में बहुत सी बाते शुक्ल जी की विचार पद्धति के विरोध में पड़ती है। जिसको लेकर हिन्दी साहित्य में दो परम्पराओं का चलन माना जाने लगा। पहली परम्परा जिसे शास्त्रीय परम्परा का नाम दिया गया उसका वाहक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को माना गया, तो दूसरी परम्परा जिसे जनवादी परम्परा कहा गया। और जिसका वाहक हजारी प्रसाद द्विवेदी को माना गया। 'दूसरी परम्परा की खोज' में नामवर सिंह ने इस बात को पुष्ट करने का प्रयास किया, लेकिन ऐसे सरलीकृत विभाजन का क्या लाभ? माना कि शुक्ल जी को 'तुलसी' प्रिय हैं तो हजारी प्रसाद द्विवेदी को 'कबीर'। मध्यकालीन भक्त 'कबीर' की वाणी में जो तेजस्विता है,उतनी हम तुलसी में नहीं पाते। लेकिन तुलसी के समाज सम्बन्धी जो विचार है, उसका नाममात्र का अंश भी कबीर में नहीं मिलता। वस्तुतः दोनों की साधना पद्धति अलग–अलग होते हुएभी इसी संसार के सन्दर्भ को लेकर है तो फिर इन परम्पराओं की खोज का मतलब? साथ ही एक और महत्वपूर्ण बात है कि निर्गुण काव्यधारा के अलावा इतिहास के रीतिकाल या अन्य कवियों के बारे में जो टिप्पणी शुक्ल जी की है लगभग उसी को हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किचिंत हेर–फेरे के साथ स्वीकार कर लिया है, एवम् आचार्य शुक्ल की महत्ता को स्वीकार करते हुए द्विवेदी जी लिखते

है "भारतीय काव्यालोचन शास्त्र का इतना गंभीर और स्वतन्त्र विचारक हिन्दी में तो दूसरा हुआ ही नहीं, अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी हुआ है या नहीं, ठीक नहीं कह सकते। शायद नहीं हुआ है।"[123]

आचार्य शुक्ल जहां पाश्चात्य आलोचना से प्रभावित थे वहीं द्विवेजी जी शुद्ध भारतीय चितन परम्परा जो संस्कृत से निकली है से प्रभावित। कबीर के विवेचन में द्विवेदी जी ने धर्म निरपेक्ष मानवीय चेतना से पूरे युग के तत्वबोध को उभारा है। कबीरदास के उपर पडे प्रभावों को स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी का मानना है कि "कबीर एक साथ ही तीन बडी–बडी धाराओं को आत्मसात् कर सके थे, लेकिन इससे उनके रामानन्द के शिष्य होने मे कोई बाधा नहीं पड़ी। ये तीन धाराएं इस प्रकार हैं– (1) उत्तर पूर्व के नाथ पंथ और सहजयान का मिश्रित रूप (2) पश्चिम का सूफी मतवाद और (3) दक्षिण का वेदान्त, भक्ति वैष्णव धर्म। कबीर के दोहे, पद, यहां तक कि उलट बाँसियाँ भी नाथपंथ और सहजयान के साधकों के ढंग पर हैं। कहीं–कहीं तो हू–ब–हू वही बात रख दी गई है। दूसरी धारा का क्षीण प्रभाव उनकी प्रेममूलक रूपक रचनाओं पर है, पर अंतिम धारा ही वास्तव में कबीर को सदा परिचालित करती रही।"[124]

द्विवेदी जी से पूर्व कबीर को अक्खड, ब्राह्मण विरोधी, हिन्दू विरोधी आदि रूप में जाना जाता रहा लेकिन द्विवेदी जी ने पूरे मनोयोग से 'कबीर' के ऊपर छाये कुहासे को मिटाकर न सिर्फ 'हिन्दी आलोचना' को ही बल्कि पूरे सन्तकाव्य को नयी दिशा–दृष्टि दी। कबीर की महत्ता प्रतिपादित करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है "कबीर की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी।"[125] कबीरदास से सूरदास की तुलना करते हुए द्विवेदी जी का मानना है कि "सुरदास सुधारक नहीं थे, ज्ञानमार्गी भी नहीं थे, किसी को कुछ सिखाने का भान उन्होंने कभी किया ही नहीं। वे कहीं भी सम्प्रदाय, मतवाद या व्यक्ति–विशेष के प्रति कटु नहीं हुए। यह भी उनके सरल ह्रदय का हीं निदर्शक है। लेकिन वे कबीर दास की तरह ऐसे समाज से नहीं आए थे, जो पद–पद पर लांछित और अपमानित होता था और जहां का गृहस्थ जीवन वैराग्य जीवन की अपेक्षा ज्यादा कठोर और तपोमय था।"[126]

रीतिकाल को द्विवेदी जी ने 'कामसूत्र' और 'गाथा सप्तशती' की परम्परा से जोडकर देखा। तात्पर्य यह कि साहित्यिक परिवर्तनों के मूल में राजनीतिक उथल–पुथल को महत्व न देकर सांस्कृतिक नैरन्तर्य की प्रतिष्ठा करने के पक्षपाती रहे है हजारी प्रसाद द्विवेदी। अपने इसी दृष्टिकोण से प्रेमचन्द्र का मूल्यांकन करते हुए उन्हे आधुनिक हिन्दी साहित्य मे प्रथम कोटि का लेखक माना। इससे पहले के आलोचक 'प्रेमचन्द्र' के बारे में ऐसे मत नहीं बना सके थे। द्विवेदी जी ने 'काव्यशास्त्र' को भी अपने 'इतिहास–प्रेम' दृष्टि से देखा। 'साहित्य का मर्म' में उन्होंने विस्तार से 'रस सिद्धान्त' की व्याख्या की है। साथ ही 'सौन्दर्य शास्त्र' को लेकर भी द्विवेदी जी ने काफी कुछ लिखा है। वे सौन्दर्य की अपेक्षा 'लालित्य' को अधिक महत्व देते हैं। वस्तुतः उन्होने हिन्दी आलोचना' को इतिहास–बोध से सम्पृक्त किया, साथ ही परम्पराबद्ध होकर 'कवि' के विवेचन पर जोर दिया। संस्कृत साहित्य के साथ ही द्विवेदी जी ने आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल के साथ–साथ छायावाद और प्रेमचन्द्र पर अध्ययन प्रस्तुत कर न सिर्फ 'हिन्दी आलोचना' को एक नयी भाव–भूमि दी, बल्कि रुढिवादिता से मुक्ति दिलाने का स्तुत प्रयास किया।

रसवादी समीक्षक डॉ० नगेन्द्र

'छायावाद' को लेकर अपनी आलोचकीय यात्रा शुरू करने वाले डॉ० नगेन्द्र मूलतः काव्यशास्त्रीय आलोचक हैं। 1937 के हंस में 'छायावाद' पर पहले आलोचनात्मक लेख में ही नगेन्द्र ने अपनी आलोचकीय प्रतिभा का दर्शन दिखा दिया था। बाद में इस निबन्ध के साथ अन्य निबन्धों को जोड़कर 'सुमित्रा नन्द पन्त' पर एक व्यवस्थति आलोचनात्मक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक की महत्ता इसी से है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है कि "काव्य की 'छायावाद' कही जाने वाली शाखा चले काफी दिन हुए। पर ऐसी कोई समीक्षा पुस्तक देखने में न आयी जिसमें उक्त शाखा की रचना प्रक्रिया (टेकनीक) प्रसार की भिन्न–भिन्न भूमियां, सोच–समझकर निर्दिष्ट की गयी हों। केवल प्रो० नगेन्द्र की 'सुमित्रानंनदन पंत' पुस्तक ही ठिकाने की मिली।"[127]
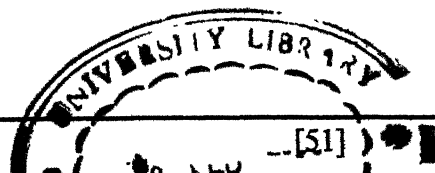
नगेन्द्र अपने व्यावहारिक आलोचना में कवि के परिवेश को बहुत अधिक महत्व देते है, पर मूल रूप से दृष्टि उनकी सौन्दर्य पर ही रहती है। चाहे वह कृति 'सुमित्रानन्दन पंत' की हो चाहे साकेत एक अध्ययन, रीतिकाव्य की भूमिका, देव और उनकी कविता या स्फुट छोटे निबन्ध 'कुरूक्षेत्र' या 'तुलसीदास और नारी' आदि सबमें कवि के जीवन संबंधी विवेचन अवश्य मिलता है। एक तरफ तो नगेन्द्र हिन्दी साहित्य पर ध्यान केन्द्रित करते रहे तो दूसरी तरफ वे पाश्चात्य आलोचना से भी जुडते चले गये। 1939 में 'वीणा' में नगेन्द्र ने रिचर्ड्स के 'प्रिंसिपल्ज आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' से प्रेरित होकर 'साहित्य में कल्पना का उपयोग' विषय पर निबन्ध लिखा। नगेन्द्र का साहित्यिक संस्कार चूंकि छायावाद युग में हुआ था तो स्वाभाविक था कि उनमें 'व्यक्तिवादिता' का तत्व मिलता। ऐसा ही हुआ और इसकी परिणिति यह हुई कि वे फ्रायड' के 'मनोविश्लेषण' के करीब पहुंच गये। 'छायावाद की परिभाषा' में सबसे पहले इसका प्रभाव पड़ा। बाद में उनकी व्यावहारिक समीक्षा मे एक रूढि के रूप में यह जुड गया। इसकी पृष्ठभूमि तो 'रीतिकाल की भूमिका' और 'देव और उनकी कविता' में ही बन गयी थी। नगेन्द्र ने स्वीकार किया है कि "रीतिकाव्य के अध्ययन के समय मैं व्यावहारिक आलोचना से सैद्धान्तिक आलोचना की ओर आकृष्ट हो चला था।"[128]

नगेन्द्र आलोच्य विषय को बहुत ही स्पष्ट तरीके से गहनात्मक रूचि से व्यवस्थित करते हैं। उनका मानना है कि "प्रायः प्रतिष्ठित या ऐसा काव्य ही जिसके स्थायी मूल्य स्पष्ट लक्षित हों मेरी आलोचना का विषय रहा है किसी कृति को या कृतिकार को स्थापित करने की स्पृहा मन में नहीं आयी।"[129] इसी मनोभूमि के कारण नगेन्द्र की आलोचना शिल्प पक्ष पर अधिक टिकती है, भाव पक्ष पर अपेक्षाकृत कम। इनकी आलोचना में 'खण्डन–मण्डन' की अपेक्षा व्याख्या, विश्लेषण और अनुशंसात्मक प्रवृत्ति के आधिक्य का कारण यही मनोभूमि है। 'सैद्धान्तिक आलोचना' के क्षेत्र में 'रस–सिद्धान्त' उनकी महत्वपूर्ण देन है। नगेन्द्र के अनुसार 'आनन्द' की प्राप्ति ही काव्य का साध्य है। वे काव्य की दो स्थितियों 'आनन्द की सिद्धावस्था और साधनावस्था' के लिए अलग–अलग मानदण्डों की वकालत करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्य में आनन्द के साथ–साथ, सामाजिक उपयोगिता

को भी महत्व देते थे। काव्य में 'आनन्द' की सीमा रेखा बताते हुए शुक्ल जी ने 'रसमीमासा' में लिखा है, "क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफन मांगना देख सुन कर ऑसू नहीं आ जाते, दॉत निकल पड़ते हैं ? क्या कोई दुःखान्त कथा पढकर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती? चित्त का यह द्रुत होना क्या आनन्दगत है? इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है उसे नाच तमाशे की तरह बना दिया है।"[130]

डॉ० नगेन्द्र ने इसका उत्तर देते हुए लिखा "माना कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' का प्रेक्षण सहृदय दात निकालने के लिए नहीं करता, पर क्या आँसू बहाने के लिए यह समय और धन का व्यय कर रहा है?"[131] वस्तुतः शुक्ल जी काव्य में मूल्यों को अधिक महत्व देते थे इसीलिए वे साहित्य मे 'आनन्दवाद' को बहुत महत्व नहीं देते। नगेन्द्र के लिए मूल्यों का कोई महत्व ही नहीं है, बल्कि वे काव्यानन्द में ही मूल्यों को पर्यवसित मान लेते हैं। डॉ० नगेन्द्र ने साहित्य में 'आनन्दवाद' की स्थापना पर बल दिया जिसके कारण वे साहित्य के सामाजिक सन्दर्भों को अनदेखा सा कर गये।

डॉ० नगेन्द्र ने 'छायावादी' कविता को, द्विवेदी युग की प्रति क्रिया मानते हुए इसे, "स्थूल के प्रतिसूक्ष्म का विद्रोह माना" है।[132] हिन्दी काव्यधारा के अगले चरण प्रगतिवाद को उन्होंने छायावादी सूक्ष्मता के प्रति स्थूलता का विद्रोह माना है। "स्थूल ने एक बार फिर सूक्ष्म के विरूद्ध विद्रोह किया। यह प्रतिक्रिया दो रूपों में व्यक्त हुई। एक तो छायावाद की पलायन वृत्ति के विरूद्ध, दूसरी उसकी अमूर्त उपासना के विरूद्ध।.... इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों का सम्मिलित रूप आज प्रगतिवाद के नाम से पुकारा जाता है।"[133]

वस्तुतः नगेन्द्र का महत्व हिन्दी आलोचना में पूर्वी–पश्चिमी काव्यशास्त्रों के अध्ययन तथा उनके आपसी सम्बन्धित सूत्रों के एकीकरण को लेकर है। स्वयं उनकी मान्यता है कि "भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह यहां के काव्यशास्त्र भी एक दूसरे के पूरक हैं और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर काव्य शास्त्र का निर्माण सहज सम्भव है।" नगेन्द्र की इस एकीकरण सूत्रों, को

'ध्वन्यालोक', 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' 'वक्रोक्ति जीवित' आदि की भूमिकाओं के साथ–साथ 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' 'काव्य में उदात्त तत्व' में देखा जा सकता है। नगेन्द्र की आलोचना दृष्टि की महत्ता इस बात में है उन्होंने अपना उत्तरोत्तर विकास किया। कोई रुढि नहीं बनायी। डॉ0 निर्मला जैन के शब्दों में "उनका आलोचक व्यक्तित्व क्रमशः साधनावस्था से सिद्धावस्था की ओर ही बढ़ता रहा है।"[134]

(ड) डॉ0 देवराज

शुक्लोत्तर आलोचना त्रयी कहीं न कहीं शुक्ल जी के सैद्धान्तिक मतभेदों से अपने लिए आलोचना का विषय चुनती रही। नन्ददुलारे वाजपेयी छायावाद को लेकर हजारी प्रसाद द्विवेदी मध्यकालीन संत साहित्य को लेकर तो नगेन्द्र 'रस' को लेकर शुक्ल जी से टकराते हैं और इस टकराहट के फलस्वरूप हिन्दी आलोचना को एक नयी भावभूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं। पर इन सबसे अलग डॉ० देवराज ने शुक्ल जी को मान्यताओं को किंचित विस्तार देकर उसे समसामयिक सन्दर्भ से जोडने का प्रयास किया।

डॉ० देवराज ने 'छायावाद का पतन' पुस्तक लिखकर हिन्दी पाठकों को चौंका सा दिया। पुस्तक के नाम में भले ही चमत्कार हो, लेकिन विवचेन क्रम में उन्होंने ऐसी कोई नई बात नहीं कही है, जिससे चौंकने की जरूरत हो। 'छायावाद' की आलोचना करने के क्रम में उन्होंने सिर्फ उसके कमजोर पक्षों को ही केन्द्रित किया परिणाम स्वरूप उनकी आलोचना एकांगी और एक पक्षीय सी हो गयी। इस बात का एहसास स्वयं डॉ० देवराज को हो गया था इसके लिए उन्होंने अलग से एक निबन्ध लिखकर छायावाद का पूर्ण विश्लेषण करने का प्रयास किया।' छायावादी कवियों का कृतित्व निबन्ध को 'छायावाद का पतन' के साथ मिलाकर पढने का आग्रह करते हुए डा0 देवराज ने लिखा "जहां उक्त पुस्तक (छायावाद का पतन) लिखते समय हमारा ध्यान प्रधानतया छायावाद की उन अशक्तियों पर था जो उसके निराकरण या लोप का कारण हुई, वहां प्रस्तुत निबन्ध (छायावादी कवियों का

कृतित्व) मे हम उनकी उपलब्धियों का विश्लेषण करने की चेष्टा करेंगे जो छायावादी काव्य को हमारे साहित्य का उल्लेखनीय अध्याय बनाती है।''[135]

'छायावाद का पतन' में डॉ० देवराज ने स्वयं स्वीकार किया है कि यह पुस्तक शुक्ल जी की छायावाद संबंधी समीक्षाओं का भाष्य है। डा0 देवराज ने भले ही शुक्ल जी के छायावाद सम्बन्धी मान्यताओं का भाष्य लिखा हो लेकिन इसकी शब्दावली स्वयं उनकी गढी हुई है। छायावाद के पतन का मूल कारण बताते हुए देवराज ने प्रगतिशील साहित्य की कमियों को भी बताया है ''छायावाद के पतन का कारण उसका असामाजिक अथवा गलत विषय से उलझना नहीं था .... हमारा विश्वास है कि अधिकांश हिन्दी पाठक जो छायावाद से असन्तोष महसूस करते हैं, मार्क्सवाद के अनुयायी नहीं है और न विश्व की आर्थिक राजनैतिक व्यवस्था बदलने को ही विशेष उत्सुक रहे हैं। .... प्रगतिवादी आलोचक ऐसे पाठकों की अनुभूति का सफल विश्लेषण नही कर पाये हैं। इसलिए उनसे वे सब पाठक और आलोचक जो वादग्रस्त नहीं है, असन्तुष्ट हैं।''[136] कहना न होगा असन्तुष्ट पाठकों में स्वयं डा0 देवराज भी है। छायावाद के 'पतन' के क्रम में डॉ० देवराज ने उन्हीं बातों को बताया जो छायावाद की शक्तियां थी। जैसे शब्दमोह, चित्रमोह और कल्पनामोह।

डॉ० देवराज मानते हैं कि प्रत्येक युग का साहित्य, अपने भाव भूमि में नया होता है, इसलिए आलोचना का कोई शाश्वत मानदण्ड नहीं हो सकता। ''जब किसी नवीन कला कृति की अनुभव–गोचर महत्ता प्रचलित सिद्धान्तों द्वारा व्याख्यात नहीं होती, तब उसकी व्याख्या के लिए नए सिद्धान्तों की आवश्यकता पड़ती है।''[137] इसी के चलते परम्परागत 'रस ध्वनि' की कसौटी प्रेमचन्द्र या उनके बाद के साहित्य के लिए बेमानी हों गये। डॉ० देवराज का मानना है कि ''आज रस और ध्वनि की कसौटियों पर तुर्गनेव के 'पिता–पुत्र' गाल्सवर्दी के 'फोर्साइट सागा' अथवा प्रेमचन्द्र के 'गोदान' को ठीक से नहीं जांचा जा सकता।''[138]

डॉ० देवराज की आलोचना की एक खास विशेषता यह रही है कि उन्होंने सूर को तुलसी से श्रेष्ठ कवि माना साथ ही तुलसी के मानस को उनकी अन्य कृतियों (गीतावली, कवितावली) से निम्न कोटि का समझा। बिहारी को छायावाद के

कवियो के समकक्ष रखकर छायावादी कवियों को हीन समझा। वस्तुतः यह प्रवृत्ति द्विवेदी युगीन आलोचना की ही प्रवृत्ति का विस्तार है।

'पं० रामचन्द्र शुक्ल एक मूल्यांकन' डा0 देवराज का एक प्रसिद्ध निबन्ध है जिसमें उन्होंने शुक्ल जी की विशेषताओं को उभारा है तो उनकी सीमा रेखा को भी रेखांकित किया है। डॉ० देवराज का कहना है कि "शुक्ल जी की सबसे बड़ी शक्ति है रस ग्राहिता, इतनी ठोस रसज्ञता वाले पाठक और आलोचक बहुत कम पैदा होते है।"[139] शुक्ल जी की सीमा बताते हुए उनका कहना है कि "शुक्ल जी की रस ग्राहिणी क्षमता निसंदिग्ध है, किन्तु मीमांसक की दृष्टि से वे अरस्तू जैसे क्रान्तिदर्शी प्रतिभा मनीषियों से ही नहीं, रिचड्र्स जैसे साधारण किन्तु वैज्ञानिक विचारकों से भी पीछे थे।"[140]

डॉ० देवराज का आलोचकीय महत्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने बिना किसी वाद में अपने को जकडे एक स्वतन्त्र विचारक की दृष्टि से रूचि के अनुसार अपनी आलोचना लिखी। 'रूचि वैचित्र्य' की दृष्टि से उन्होंने एक तरफ 'अलंकार और ध्वनि' 'उर्दू गजल में चमत्कार' से लेकर 'साहित्य का प्रयोजन', 'युग और साहित्य' 'साहित्य में प्रगति', 'हिन्दी आलोचना का धरातल' विषय पर लिखा तो दूसरी तरफ 'आदि काव्य' से लेकर प्रयोगशील काव्य के साथ–साथ समकालीन कथा साहित्य को भी अपनी आलोचना का विषय बनाया। डॉ० देवराज की मान्यतायें अवश्य विवादास्पद रही हैं, लेकिन अपने तर्कशक्ति की बदौलत–ध्यातव्य है कि डा0 देव राज दर्शन के विद्यार्थी रहे हैं–उन्होंने अपनी बात को पुख्ता प्रमाण के साथ प्रस्तुत किया है। 'आदि काव्य' पर लिखा निबन्ध ऐसा निबन्ध है जो हिन्दी में हजारी प्रसाद द्विवेदी के अलावा कोई नहीं लिख पाया है। डॉ० देवराज अपनी कमियों को पहचानने और उससे मुक्त होने के सतत आकांक्षी रहे हैं। वे किसी भी विषय पर 'अन्तिम सत्य' की बात नहीं करते यह उनकी आलोचकीय प्रतिभा की महानता है। स्वयं डा0 देवराज का कहना है कि "स्वभावतः अवस्था वृद्धि और रस संवेदना के विकास के साथ निर्णय बुद्धि अधिक सन्तुलन होना सिखाती है।"[141]

प्रगतिशील समीक्षकों की परम्परा, जिसकी शुरूआत 1936 के आस–पास से होती है, हिन्दी आलोचना में विकसित होने लगती है, इसी आलोचना पद्धति के दौर मे विजय देव नारायण साही' का आलोचना कर्म शुरू होता है। साही के समकालीन आलोचकों जिसमें प्रगतिशील विचारकों के साथ–साथ नई समीक्षा के आलोचक और अज्ञेय समर्थित आलोचक है का विवेचन अगले अध्याय में किया गया है।

फूटनोट

1. हिन्दी समीक्षा · स्वरूप और सन्दर्भ – राम दरश मिश्र पृ० 03
2. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास – भगवत स्वरूप मिश्र पृ० 143
3. हिन्दी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ – राम दरश मिश्र – पृ० 2
4. हिन्दी आलोचना कोश, सं० यशपाल महाजन – भूमिका निर्मला जैन
5. हिन्दी समीक्षा – स्वरूप और सन्दर्भ – राम दरश मिश्र, पृ० 4
6. हिन्दी की सैद्धान्तिक संस्करण – रामाधार शर्मा, पृ० 6
7. दयानन्द शताब्दी संस्करण – प्रथम भाग, पृ० 42
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 288
9. हिन्दी आलोचना – शिखरों से साक्षात्कार – रामचन्द्र तिवारी पृ० 10
10. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – बच्चन सिंह, पृ० 87
11. हिन्दी प्रदीप पत्रिका – बालकृष्ण भट्ट, जुलाई 1881
12. आनन्द कादम्बिनी पत्रिका सं० प्रेमधन, जुलाई 1881
13. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रन्थावली – सं० ब्रजरत्नदास
14. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 288
15. हिन्दी प्रदीप पत्रिका सं० बालकृष्ण भट्ट, अप्रैल, 1886
16. हिन्दी प्रदीप पत्रिका सं० बालकृष्ण भट्ट
17. प्रेमधन सर्वस्व भाग–2, सं० प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय
18. प्रेमधन सर्वस्व भाग–2, सं० प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय
19. प्रेमधन सर्वस्व भाग–2 (दृश्य रूपक का नाटक)–सं० प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय
20. प्रेमधन सर्वस्व भाग–2 सं० प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय
21. हिन्दी प्रदीप पत्रिका – सं० बालकृष्ण भट्ट – अक्टूबर, 1886
22. हिन्दी प्रदीप पत्रिका – सं० बालकृष्ण भट्ट – अक्टूबर 1901
23. हिन्दी आलोचना कोश सं0 यशपाल महाजन – भूमिका निर्मला जैन
24. हिन्दी आलोचना – विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ० 17
25. सरस्वती पत्रिका का प्रथम प्रकाशन 1900 में हुआ है।
26. साहित्यलाप सं० सं० – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 41
27. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल – पृ० 288
28. सरस्वती – सं० महावीर प्रसाद द्विवेदी – सन् 1911, पृ० 311
29. साहित्यलाप सं०– महावीर प्रसाद द्विवेदी पृ० 40–41
30. रसज्ञ रंजन – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 20
31. रसज्ञ रंजन – महावीर प्रसाद द्विवेदी पृ० 20
32. साहित्यलाप सं०सं० – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 54–55
33. साहित्यलाप सं०स0 महावीर प्रसाद द्विवेदी पृ० 44
34. संचयन – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 137

35. संचयन – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 137–38
36. साहित्य सन्दर्भ – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 162
37 साहित्य सन्दर्भ – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 171
38. साहित्य सन्दर्भ – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 165
39 साहित्यलाप स० सं० – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 57
40. विचार विमर्श – महावीर प्रसाद द्विवेदी,
41. हिन्दी साहित्य का इतिहास–रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 281
42. हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी – निर्मला जैन, पृ० 17
43. हिन्दी आलोचना : शिखरों से साक्षात्कार – रामचन्द्र तिवारी, पृ० 11
44 मिश्र बन्धु विनोद – मिश्र बन्धु – भूमिका
45. हिन्दी नवरत्न सप्तम सं०–मिश्र बन्धु, पृ० 21
46. हिन्दी नवरत्न सप्तम् सं०– मिश्र बन्धु, पृ० 21
47. हिन्दी आलोचना का विकास – नन्द किशोर नवल, पृ० 63
48. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुकल, पृ० 281
49. हिन्दी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ : राम दरश मिश्र, पृ० 46
50 पद्म सिंह शर्मा के पत्र – सं० बनारसी दास चतुर्वेदी, पृ० 6
51. पद्म पराग–प्रथम भाग–सं० पारसनाथ सिंह, पृ० 341
52. पद्म पराग – प्रथम भाग – सं० पारसनाथ सिंह, पृ० 345
53 बिहारी सतसई : तुलनात्मक अध्ययन – पदम सिंह शर्मा भूमिका, पृ० 22
54. बिहारी सतसई : तुलनात्मक अध्ययन – पदम सिंह शर्मा भूमिका, पृ० 62
55. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 7
56. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 289
57. देव और बिहारी – कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 11
58. देव और बिहारी , कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 47
59. मतिराम ग्रन्थावली – कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 3
60 मतिराम ग्रन्थावली – कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 3
61 देव और बिहारी– कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 51–52
62. देव और बिहारी– कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 183–84
63. देव और बिहारी– कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 167–68
64. देव और बिहारी– कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 167–68
65. हिन्दी नवरत्न – मिश्र बन्धु, पृ०–230
66. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 290
67. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 290
68. लक्ष्मी पत्रिका – सं० लाला भगवानदीन, जनवरी, 1995 अंक
69. लक्ष्मी पत्रिका – सं० लाला भगवानदीन, जनवरी, 1995 अंक
70. लक्ष्मी पत्रिका – सं० लाला भगवानदीन, जनवरी, 1995 अंक
71. लक्ष्मी पत्रिका – सं० लाला भगवानदीन, जनवरी, 1995 अंक

72. बिहारी और देव – लाला भगवानदीन, जुलाई–1995 अंक
73. बिहारी और देव – लाला भगवानदीन, भूमिका
74. बिहारी और देव – लाला भगवानदीन, पृ० 63
75. बिहारी और देव – लाला भगवानदीन, पृ० 72–73
76. केशव पंचरत्न – लाला भगवानदीन, आम्रशिका
77. हिन्दी आलोचना का विकास – नन्द किशोर नवल, पृ० 96
78. गुप्त निबन्धावली –सं०, पृ० 546
79. विश्व प्रपंच– रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका – पृ० 56
80. चिन्तामणि भाग–2 – रामचन्द्र शुक्ल – पृ० 68
81. गोस्वामी तुलसी दास–रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 15
82. गोस्वामी तुलसी दास–रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 35
83. गोस्वामी तुलसी दास–रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 411
84 गोस्वामी तुलसी दास–रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 11
85. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 79
86. त्रिवेणी – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 40
87. त्रिवेणी – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 37
88. त्रिवेणी – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 35
89. जायसी ग्रन्थावली – रामचन्द्र शुक्ल पृ० 152
90. सूरदास – सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 101
91. सूरदास – सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 106
92. सूरदास – सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 113
93. सूरदास – सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 111
94. सूरदास – सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 116
95. सूरदास – सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 118
96. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ०–काल विभाग
97. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 186
98. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना – राम विलाश शर्मा, पृ० 07
99. साहित्यालोचन – बाबू श्याम सुन्दर दास, पृ० 31
100. पल्लव – सुमित्रा नन्दन पन्त, पृ० 49
101. सामयिकी – शांतिप्रिय द्विवेदी, पृ० 225
102. सामयिकी – शांतिप्रिय द्विवेदी, पृ० 225
103. सामयिकी – शांतिप्रिय द्विवेदी, पृ० 188
104. सामयिकी – शांतिप्रिय द्विवेदी, पृ० 135
105. सामयिकी – शांतिप्रिय द्विवेदी, पृ० 133
106. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र वाङ्मय विमर्श, पृ० 181–82
107. आधुनिक साहित्य – नन्द दुलारे बाजपेयी, पृ० 84–85
108. हिन्दी साहित्य – बीसवीं शताब्दी – नन्द दुलारे बाजपेयी, पृ० 87

109 नया साहित्य : नये प्रश्न – नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० 2
110. आधुनिक साहित्य – नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० 319
111 हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी – नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० 22
112 आधुनिक साहित्य – नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० 3
113 हिन्दी साहित्य का इतिहास–रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 373
114 हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी – नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० 139
115 हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी – नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० 52
116 हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी – नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० 117
117 हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी – नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० 118
118 हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी – निर्मला जैन, पृ० 55
119. हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी – निर्मला जैन, पृ० 55
120 नया साहित्य : नये प्रश्न – नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० 27
121 हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी – नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० 32
122 हिन्दी साहित्य की भूमिका – हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० 16
123 हिन्दी साहित्य की भूमिका – हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 133
124 हिन्दी साहित्य की भूमिका – हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 55–56
125. कबीर – हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 123
126. हिन्दी साहित्य की भूमिका – हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 97
127. हिन्दी साहित्य का इतिहास– रामचन्द्र शुक्ल पृ० 306
128. आस्था के चरण –नगेन्द्र, पृ० 10
129. आस्था के चरण –नगेन्द्र, पृ० 94
130. रस मीमांसा – राम चन्द्र शुक्ल, पृ० 80
131. रस सिद्धान्त – नगेन्द्र, पृ० 100
132. सुमित्रा नन्दन पन्त–नगेन्द्र, पृ० 1–2
133. सुमित्रा नन्दन पन्त–नगेन्द्र, पृ० 132–33
134. हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी–निर्मला जैन, पृ० 63
135. छायावादी कवियों का कृतित्व – देवराज
136 छायावाद का पतन – देवराज, पृ० 9
137. साहित्य चिन्ता – देवराज, पृ० 19
138. साहित्य चिन्ता – देवराज, पृ० 67
139. प्रतिक्रियाएं – देवराज, पृ० 21
140. प्रतिक्रियाएं – देवराज, पृ० 21
141. साहित्य चिन्ता – देवराज, पृ० 196

द्वितीय अध्याय

साही के समकालीन आलोचकों की आलोचना-दृष्टि

(क) मार्क्सवादी समीक्षा

शिवदान सिंह चौहान

प्रकाश चन्द्र गुप्त एवं अन्य प्रारम्भिक मार्क्सवादी समीक्षक

डॉ० राम विलाश शर्मा

गजानन माधव मुक्तिबोध

नामवर सिंह

(ख) प्रयोगवादी कवि आलोचक

अज्ञेय

(ग) नयी कविता, नई समीक्षा के आलोचक

रघुवंश, लक्ष्मीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के बाद का समय न केवल हिंदी साहित्य में ही बल्कि पूरी भारतीय जनमानस में ही एक महत्वपूर्ण बदलाव का संकेत देता है। इस दौर की भारतीय राजनीति मे गॉधीवादी विचारधारा से अलग एक समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बढने लगा। कांग्रेस में होने के बावजूद इनकी विचारधारा गांधीवाद से कुछ दूर होती दिखी। जवाहर लाल नेहरू का इस विचारधारा को पूर्ण समर्थन मिला। वस्तुतः उत्तरछायावाद का काल और नेहरू के राजनीतिक उत्कर्ष के काल का समय लगभग एक है। साथ ही एक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के रूप में हुई। वस्तुतः यह मजदूर आन्दोलनों की परिणति थी।

वैसे तो 1920 में ही ताशकन्द में हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी के स्थापना की घोषणा हुई थी। लेकिन "भारत में कम्युनिज्म के प्रचार के लिए तात्कालिक रूप से नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य उर्फ मानवेन्द्र नाथ राय उत्तरदायी थे[1]।" भारत से बाहर भले ही कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हो चुकी थी लेकिन भारत में विधिवत '1924 में कानपुर में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की घोषणा' की गयी[2]। हिन्दी साहित्य पर राजनीतिक विचारों खासकर 'कम्युनिस्ट' विचारधारा का महत्वपूर्ण प्रभाव पडा। परिणाम स्वरूप 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना लखनऊ में हुई। जिसके पहले अधिवेशन की अध्यक्षता हिंदी कथाकार प्रेमचन्द ने की। वैसे तो इसे हिंदी प्रगतिशील साहित्य का मूलबिन्दु माना जाता है, लेकिन सच्चाई तो यह है कि इसकी स्थापना का श्रेय उर्दू साहित्यकारों को अधिक है। स्वयं प्रेमचन्द का भाषण बकौल नामवर सिंह उर्दू में ही है। 11 अप्रैल 1986 को लखनऊ में "प्रगतिशील लेखन आंदोलन के पचास वर्ष" विषय पर व्याख्यान देते हुए डॉ० नामवर सिंह ने कहा कि "प्रगतिशील आंदोलन की शुरूआत कायदे से उर्दू के लेखकों ने शुरू की थी.............'रोशनाई' में सज्जाद जहीर ने लिखा है कि हिंदी से प्रेमचन्द अपने साथ सिर्फ एक लेखक को लाये थे और वह थे जैनेन्द्र कुमार।"[3] शुरूआत भले ही दो लोगों ने की हो लेकिन आज के संदर्भ में इस धारा का महत्व अप्रतिम है। प्रगतिवाद ने हिंदी रचना आलोचना को एक नयी दृष्टि दी। लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार "प्रगतिवाद का उद्देश्य था साहित्य में उस सामाजिक यथार्थवाद को

प्रतिष्ठित करना, जो छायावाद के पतनोन्मुख काल की विकृतियों को नष्ट करके एक नये साहित्य और नये मानव की स्थापना करे और उस सामाजिक सत्य को, उसके विभिन्न स्तरों को, साहित्य में प्रतिपादित होने का अवसर प्रदान करे।"[4]

1943 मे अज्ञेय सम्पादित 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ ही हिंदी साहित्य में एक अन्य वाद 'प्रयोगवाद' का चलन आरम्भ हुआ। वस्तुतः यह कोई वाद नहीं था। स्वयं अज्ञेय और अन्य सहयोगी रचनाकारों ने इसे वाद से मुक्त रखने का आग्रह किया लेकिन जैसे छायावादी कवियों के विरोध के बावजूद 'छायावाद' चलन में आया वैसे ही 'प्रयोगवाद' भी। प्रयोग से तात्पर्य क्या है? अज्ञेय कहते हैं "प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किये हैं : यद्यपि किसी एक काल में किसी विशेष दिशा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं : उन से आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी नहीं छुआ गया या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।"[5] तात्पर्य यह कि उन अन्वेषण क्षेत्रों को खोजने का काम प्रयोग है जो अब तक अप्राप्य थे। इसी कारण यह प्रवृत्ति 'व्यक्ति सत्य' को 'व्यापक सत्य' बनाने का प्रयास महत्वपूर्ण मानती है। अज्ञेय के अनुसार "जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उस की सम्पूर्णता में पहुँचाया जाये यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।"[6]

प्रयोगवाद का हिन्दी साहित्य में उदय एक विशेष सन्दर्भ में हुआ है। लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार "प्रथम तो यह कि छायावाद ने अपने शब्दाडम्बर में बहुत से शब्दों और बिम्बों के गतिशील तत्वों को नष्ट कर दिया था। दूसरी ओर प्रगतिवाद ने सामाजिकता के नाम पर विभिन्न भाव–स्तरों को एवं शब्द संस्कारों को अभिधात्मक बना दिया था।"[7] तो स्वाभाविक था कि कवि अपने लिए नया रास्ता चुने। परम्परा से मुक्ति के साथ–साथ नयी काव्यशैली का अन्वेषण तथा समाज में व्यक्ति की स्थिति आदि कुछ महत्वपूर्ण सूत्र हैं जिनका प्रयोग इस 'वाद' के कवियों ने किया। प्रयोगवाद का अगला साहित्यिक रूपान्तरण 'नयी कविता' के रूप में हुआ।

में चौहान जी ने हिन्दी साहित्य की परम्परा का विवेचन करने के साथ–साथ प्रगतिशील साहित्य के सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध करने का क्रान्तिकारी प्रयास किया। हिन्दी साहित्य की परम्परा को व्याख्यायित करते हुए चौहान जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "भक्तिकाल में भी केवल आत्म–समर्पण भक्ति में तल्लीनता आदि भाव ही हमारे तुलसी–सूर आदि साहित्य में भर पाए थे। उनके बाद रीतिकाल में विचारधारा तो दूर हमारे कवि कविताबद्ध कोकशास्त्र लिखने लगे। उनसे इस अधोगति के अलावा और उम्मीद भी क्या की जा सकती थी। वर्तमान काल में भी किसी स्वस्थ विचारधारा का नाम नही।"[10] वस्तुतः यह सरसरी तौर पर निर्णयात्मक आलोचना का .खेमावादी' स्वरूप का पूर्व आभास है। प्रगतिशील आलोचकों की जो विध्वांसात्मक प्रवृत्ति रही है – अब यह कुछ हद तक मुक्त हो गयी है – उसका बीजरूप इस प्रारम्भिक निबन्ध में देखा जा सकता है।

वस्तुतः प्रगतिवाद एक दृष्टिकोण है जीवन को समग्र रूप में देखने का कोई प्रचारवाद या मतवाद का आन्दोलन नहीं। प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य को समाज के परिप्रेक्ष्य में देखने की कायल रही है। इसी कारण वह साहित्य को 'रस' की पुष्टि का कारक नहीं मानती। प्रगतिवादी विचारधारा का मानना है कि समाज और व्यक्ति दोनों को जनवादी दृष्टिकोण से ही वैज्ञानिक तथा विश्वजनीय धरातल पर पहुँचाया जा सकता है। डा० चौहान की दृष्टि बराबर इसी बात पर केन्द्रित रही कि "व्यक्ति और समाज दोनों की भावी प्रगति के योग क्षेम की दृष्टि से जैसे कला और साहित्य का नव निर्माण प्रयोजनीय है वैसे ही उसके व्यापक मानव मूल्यों का निर्धारण भी उतना ही प्रयोजनीय है।"[11] 'मानव–मूल्यों' की तलाश में शिवदान सिंह चौहान साहित्य के रसवाद, मनोविज्ञानवाद, प्रभाववाद आदि को निरर्थक मानते हैं और इसी दृष्टिकोण के कारण प्रगतिवाद के तथाकथित 'वादियों' की भी आलोचना करते हैं। प्रगतिवादी आलोचकों की सीमादृष्टि से भली–भाँति परिचित चौहान जी का मानना है कि 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' केवल प्राचीन लेखकों का ही एक सीमा तक सही मूल्यांकन कर पाती है",[12] तात्पर्य यह कि ऐसी दृष्टि अपने समकालीन रचना का मूल्यांकन नहीं कर पाती क्योंकि वह किसी रचना के सामयिक महत्व को ही उसके स्थाई सौन्दर्य का पर्यायवाची स्वीकार करती आई है।"[13]

प्रगतिशील आलोचकों के दोहरे मानदण्ड–प्राचीन लेखकों के लिए अलग नये लेखको के लिए अलग – की मूलभूत कमजोरी को पकडने के साथ–साथ चौहान जी इस बात के लिए भी प्रयत्नशील रहे कि प्रगतिशील आलोचकों की आलोचना दृष्टि कैसी हो।" प्रगतिवाद यदि किसी लेखक के सामाजिक सूत्रों को प्रकाश में लाता है अर्थात उन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करता है जिन्होंने लेखक को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करके अपनी रचना के लिए प्रेरित किया तो वह उस रचना द्वारा समाज की बदलती परिस्थितियों पर पड़े प्रभावों का भी मूल्यांकन करता है।"[14] तात्पर्य यह कि उसकी दृष्टि यथार्थवादी होती है। यथार्थवादी इस दृष्टिकोण से कि "साहित्य या कला की कोई कृति अपने समय की वास्तविकता का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब मात्र नहीं होती जिस प्रकार आइने में पड़ा प्रतिबिम्ब होता है, बल्कि वह समाज या मनुष्य के अहं (भाव–चेतन) का परिवर्तित परिस्थितियों में भिन्न–भिन्न प्रभाव डालकर परिष्कार भी करती रहती है अर्थात् उसे बदलती रहती है। इसी कारण उस रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है।"[15] अर्थात् साहित्यकार (भाव–चेतना) और उसका सामाजिक सम्बन्ध प्रगतिवादी आलोचना का मूल है। स्वयं चौहान जी ने इसी दृष्टिकोण से कविता, कहानी, रेखाचित्र, रिपोतार्ज, समीक्षा आदि पर विचार प्रस्तुत किया।

'कथा साहित्य की समस्यायें' में कथा साहित्य की जीवन्तता को लेकर चौहान जी का मानना है कि 'व्यक्तिगत और सामजिक' दोनों कारकों के कारण ही कथा में जीवन्तता या ऊर्जास्विता नहीं आ पाती है। "व्यक्तिगत यह कि हमारे तरूण लेखक कथा–साहित्य की आश्यकताओं के प्रतिसचेत नहीं है क्योंकि उनके अध्ययन की परम्परा दोषपूर्ण है।"[16] सामाजिक कारकों से क्या तात्पर्य है? डॉ० रामदरश मिश्र कहते है "चौहान जी का मानना है कि उत्कर्ष प्राप्त साहित्य वही है जिसका सामान्य धरातल भी ऊँचे उठा हुआ हो और ऐसा साहित्य तभी निर्मित हो सकता है जब उसका प्रत्येक कलाकार सामाजिक जीवन की सच्ची समस्याओं का एक सजीव किन्तु काल्पनिक चित्र देकर उसके समाधान की दिशाओं की ओर संकेत कर देता है।"[17]

कविता में इसी व्यक्तिगत और सामाजिक सन्दर्भों की कमी के कारण चौहान जी को पन्त की कविता में कोई मूल्यवान तत्व नहीं नजर आया। 'छायावादी कविता में असन्तोष की भावना' के साथ "श्री सुमित्रानन्दन पन्त" की कविताओं का विश्लेषण करते हुए छायावादी कविता की उत्कृष्टता को लेकर चौहान जी ने बार-बार क्षोभ व्यक्त किया है। लेकिन परवर्ती काव्यधारा के समय मूलतः उत्तर छायावाद में पन्त की कविताओं को महत्व इस बात पर दिया कि उनकी कविता में प्रगतिशीलता के प्रारम्भिक लक्षण मिलते हैं। छायावाद के बाद की कविता को दो भागों में बॉटते हुए चौहान जी ने इसे 'नाशवादी' स्वर और 'निर्माणवादी' स्वर बताया। पहली धारा भगवती चरण वर्मा, दिनकर की रही तो दूसरी धारा पन्त के परवर्ति कविताओं की। पन्त की विशेषतायें चौहान जी की दृष्टि में यह रही कि इन कविताओं में छायावाद की अन्तर्मुखी, व्यक्तिवादी, केवल सौन्दर्यपासक, समाज-विरोधी कविता से पृथक प्रतीकवादी-यथार्थवादी (सिम्बालिक रियलिज्म) शैली की प्रारम्भिक झलक के साथ-साथ इन कविताओं में अनीति, अत्याचार, पीड़ा, द्वेष के विरूद्ध क्रान्तिकारी स्वर में भावयुक्त ओजपूर्ण ललकार है। सीमा बताते हुए चौहान जी ने इस तरह की कविता की मूल प्रवृत्ति को आराजकता की श्रेणी में रखा। विचारधारा की कोई परिपाटी का न होना, क्रान्ति का कोई निश्चित मानक न होना, के साथ-साथ इन कविताओ में बुद्धि और हृदय का समिश्रण न होकर केवल भावना प्रधान होना आदि पन्त की सीमा है।

प्रतीकों को लेकर चौहान जी कभी आशवस्त नहीं थे लेकिन प्रतीको की महत्ता को वे नजरअन्दाज भी नहीं कर पाते हैं। 'यथार्थवादी प्रतीक' शैली को महत्पूर्ण मानना मूलतः चौहान जी का प्रगतिशील साहित्य के प्रति अतिशय मोह का द्योतक है। वस्तुतः विचारधारा प्रधान आलोचना होने के कारण साहित्य का मूल्यांकन बाधित होता है। चौहान जी इस खतरे से वाकिफ थे। लेकिन इससे पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाये। शुक्लजी पर विचार करने के क्रम में उनका यही 'वाद' स्वर प्रमुख हो गया जिससे उनकी दृष्टि संकुचित हो गयी है। शुक्लजी की सीमा को उन्होने प्रेषणीयता के सन्दर्भ में देखा। चौहान जी का मानना है कि 'साधारणीकरण और लोकमंगल' शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साहित्य के इन दोनों आदर्शों या लक्ष्यों की

कल्पना अत्यंत संकुचित और अवास्तविक है। प्रचलित रूढ़ धाराओं में प्रकट सत्याभास ही उनके आधार हैं क्योंकि धार्मिक शब्दाडंबर त्याग कर 'साधारणीकरण' का तात्पर्य यदि केवल प्रेषणीय गुण है तो इस पर इतना जोर देना एक स्वयं सिद्ध को सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास है और विशेषकर के तब जब प्रेषणीयता के आधार पर एकांगी मूल्यांकन ही संभव है।"[18]

वस्तुतः शुक्ल जी कमियां बताने के क्रम में चौहान जी अपने कट्टर दृष्टिकोण के कारण उस धरातल पर पहुँच गये हैं जहॉ से शुक्ल जी या किसी का भी मूल्यांकन संभव नहीं है। सच तो यह है कि शुक्ल जी ने काव्य की कसौटी को सिर्फ 'प्रेषणीयता' ही नहीं माना, प्रेषणीयता को अन्य गुणों के साथ ही आवश्यक माना है। अगर प्रेषणीयता महत्वपूर्ण होती तो स्वाभाविक था 'निराला' को द्विवेदी कालीन कवियों से हीन समझते, लेकिन शुक्ल जी ने ऐसा कोई आभास कहीं नहीं दिया है। वस्तुतः कट्टर मार्क्सवादी विचारधारा के लेखक अपने विचारों के प्रस्तुतीकरण में पहले अपने 'दुश्मन' को निर्धारित करते हैं फिर उससे अपना बदला लेते हैं। इसी संकुचित दृष्टिकोण के कारण शुरूआती 'प्रगतिशीलता' सिर्फ विचारों, वादों की धरोहर मात्र रह गयी। बाद के प्रगतिशील विचारकों ने इससे मुक्ति का प्रयास किया तभी वह एक स्वस्थ सुन्दर रचना–आलोचना का सर्जनात्मक संसार निर्मित करने में सक्षम हो सके। प्रेषणीयता की कसौटी पर स्वयं शिवदान सिंह चौहान की शैली भी गंभीर, विचारों के भारीपन के बावजूद उलझावपूर्ण अधिक है विचारो का विशाल फलक तो है लेकिन सहज प्रवाह गति नहीं ।

प्रकाशचन्द्रगुप्त एवं अन्य प्रारम्भिक मार्क्सवादी समीक्षक

मार्क्सवादी विचारों से युक्त हिंदी आलोचना सन् 40 के आस–पास से ही विचारोत्तेजक भाषा से अपना रास्ता चुन रही थी। शुक्लोत्तर आलोचकों के साथ–साथ प्रगतिशील धारा के आलोचकों ने अपने समसामयिक साहित्य के साथ–साथ परम्परागत साहित्य को जाँचने–परखने का काम जारी रखा। शुक्लोत्तर आलोचकों की आलोचना बनी बनायी परिपाटी जो मुख्यतः शुक्ल जी से ही मिली थी पर अग्रसर हो रही थी तो वही प्रगतिशील विचारकों को यह दृष्टि 'मार्क्स तथा

'ऐंग्लस' के विचारों से मिली। यद्यपि दृष्टि या साहित्य को परखने की क्षमता–भले ही विदेशी भावयुक्त रही हो, लेकिन इस वर्ग के आलोचकों ने इसे अपने जातीय संस्कृति से जोडकर निर्मित किया पर अति उत्साह के साथ–साथ खंडित दृष्टिकोण तथा बने–बनाये सिद्धान्तों के विशेषाग्रह के कारण उनकी आलोचना में वह गंभीरता तेजस्विता नहीं आ पा रही थी जिसकी पहचान शुक्ल जी करा गये थे। प्रगतिशील आलोचकों के परम्परा की पहली पीढी शिवदान सिंह, राहुल, रांगेय राघव, यशपाल आदि की 'उदण्ड आलोचना' शैली ने हिंदी आलोचना के उस मार्ग को अवरूद्ध कर दिया जिससे साहित्य के मर्म को उद्घाटित किया जाता रहा। डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी ने इन आलोचको की आलोचना दृष्टि की सीमा बताते हुए लिखा है "प्रगतिवादी आलोचकों और लेखको ने जिन्हें प्रगतिवादी का प्रतिनिधि समझा जाता था–खुलकर हिन्दी और संस्कृत के प्राचीन साहित्यकारों की भर्त्सना की। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव इसी प्रकार के प्रगतिवादी लेखक थे जो विद्वान एवं लोकप्रिय साहित्यकार होते हुए भी अक्सर ऐसी बातें लिख जाते थे जो गलत भी होती थी और प्रगति विरोधी भी। किसी भी साहित्यकार में दोष दिखाए जा सकते हैं लेकिन यदि तुलसीदास जैसे अत्यन्त लोकप्रिय कवि को प्रगतिवादी विद्वान आलोचक–लेखक इन शब्दों में स्मरण करें तो क्या समझा जाए?

'ब्रजभाषा तब भी इस बारे में कुछ समझ से काम लेती है, लेकिन तुलसी बाबा को तो हम अपनी अवधी में लुटिया ही डुबोने के लिए तैयार दिखते हैं। शायद बाबा को अपने 'मानस' पर विश्वनाथ की मुहर लगवानी थी (राहुल पृ0 10, हिन्दी काव्य धारा प्रथम संस्करण)'

'रामनाम के प्रताप से जूठन बीनकर खाने वाला तुलसीदास (रांगेय राघव, मार्क्सवादी और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन, डा0 राम विलाश शर्मा से उद्धृत)'

'तुलसी का भक्ति मार्ग केवल सवर्ण हिन्दू जनता की सांस्कृतिक एकता का प्रतिपादन करता है।' (यशपाल–वहीं से)[19]

इससे अलग की शैली के प्रयोक्ता प्रकाशचन्द गुप्त थे। वस्तुतः गुप्त जी की शैली प्रभाविव्यंजकतापूर्ण शैली रही है। वे मार्क्सवादी विचारों से इतर कुछ भी नहीं

सोच–लिख पाते थे। गुप्तजी सामाजिक सम्बन्धों को मार्क्सवादी पद्धति पर तौलते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सामाजिक सम्बन्ध मूलतः उत्पादन के साधनों पर आधारित होता है तथा जगत् का विकास द्वन्द्ववादी पद्धति पर आधारित होता है। जगत विकासशील है और यह "दो विरोधी तत्वों से मिलकर बनता है। इनमें सतत संघर्ष चला करता है। इन दो शक्तियों के तनाव से ही सत्य निकलता है। एक शक्ति हमें पीछे खींचती है दूसरी आगे ले जाती है। इस पारस्परिक संघर्ष से जो स्थिति उत्पन्न होती है उसमें कुछ पुराना होता है कुछ नया । यह समन्वय पिछली स्थिति से एक पग आगे अवश्य होता है। हम अपने अतीत को नहीं छोड़ सकते किन्तु उसमें उलझकर रूक भी नहीं सकते।"[20]

मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्तों के आधार पर प्राचीन साहित्य के साथ–साथ आधुनिक साहित्य (छायावाद) को परखते हुए गुप्त जी का मानना है कि "छायावादी कवियों की प्रेरणा समय के प्रवाह के साथ अधिकाधिक व्यक्तिवादी और अन्तर्मुखी होती गयी, यह स्वभाविक था, क्योंकि विदेशी पूँजीवादी साहित्य और कला का प्रभाव भारत में पड़ रहा था। पूँजीवाद के अन्तर्गत मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध टूट जाते हैं। पूँजीवाद समाज व्यवस्था में पला कवि अपने को अकेला पाकर विकल होता है और उसका क्रन्दन कविता में भर जाता है।"[21]

प्रकाशचन्द गुप्त ने न केवल हिन्दी साहित्य की मूलवर्तिनी धारा को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखा बल्कि मार्क्सवादी आलोचना को भी नयी दिशा–दृष्टि दी। प्रारम्भिक मार्क्सवादी आलोचक होने के कारण प्रकाश चन्द्र गुप्त ने न केवल परिपाटी गत आलोचना से मार्क्सवादी आलोचना को अलगाया बल्कि मार्क्सवादी आलोचना की विस्तृत व्याख्या भी प्रस्तुत की। "मार्क्सवादी आलोचक कला को सम्पूर्ण सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था और उसके विकास का एक अंग मानते हैं। वे कला को उसके ऐतिहासिक ढाचें में रखकर देखते हैं। व्यक्ति की प्रतिभा को स्वीकार करते हुए वे उन परिस्थितियों की विवेचना करते हैं, जो कलाकार के व्यक्तित्व को अनुप्राणित करती है अथवा कुंठित करती है। साहित्य को सामाजिक विकास क्रम का दर्पण मानते हुए वे यह भी स्वीकार करते हैं कि कला समाज और राजनीति की गति को प्रभावित कर सकती है।"[22]

वस्तुत गुप्त जी की शैली उद्धरणात्मक पद्धति पर आधारित है। वे कवियों की अधिक से अधिक पंक्तियो को उद्धृत करके बने–बनाये सैद्धान्तिक (मार्क्सवादी) नियमो से उसकी विवेचना करते हैं। जिससे यह सूचनात्मक, परिचयात्मक ही अधिक होती है, विवेचनात्मक अपेक्षाकृत कम। गुप्त जी के विवेचन में मार्क्सवादी विचारधारा की काम चलाऊ जानकारी मिलती है, लेकिन उसमें किसी गम्भीरता का तत्व नहीं मिलता। प्रकाश चन्द्र गुप्त का महत्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने अपने संयमपूर्ण शैली से उस परम्परा को विकसित हाने से रोका जिसे चौहान जी के बाद राहुल, राघव, यशपाल ने शुरू किया था। डा० निर्मला जैन के अनुसार "सुबोधता, सरलता और शालीनता उनकी आलोचना के उल्लेखनीय गुण हैं।"[23]

इसी दौर में प्रगतिशील आन्दोलन को आगे बढ़ाने का काम अमृतराय ने किया है। अमृतराय ने बहुत ही बेबाक दृष्टि से प्रगतिशील साहित्य की कमियों को रेखाकित किया है। 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा' में अमृतराय ने विस्तार से आधुनिकता के तत्वों को रेखांकित किया है। वस्तुतः अमृतराय ने प्रगतिशील विचारधारा को स्थापित करने में अग्रणी भूमिका निभाई है, इस दृष्टि से वे इसके प्रयोजनकर्ता अधिक लगते हैं खॉटी आलोचक कम।

डॉ0 रामविशाल शर्मा

शुक्ल जी के बाद के आलोचकों ने मूलतः शुक्ल विरोध के आधार पर आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश किया था। शुक्लोत्तर आलोचकों के साथ–साथ प्रगतिवाद के प्रारम्भिक समीक्षकों ने शुक्ल जी की असंगतियों को निर्दिष्ट करने के क्रम में बहुत सी अनर्गल बातें भी कही। पर इन सबसे अलग अपनी गहरी परिष्कृत मेधा के बदौलत डॉ० रामविलाश शर्मा ने शुक्ल जी की मान्यताओं को और अधिक विस्तार दिया। प्रगतिवादी समीक्षक होने के बावजूद डॉ० शर्मा ने न सिर्फ अपने सम–सामयिक रचनाकारों को जाँचा परखा बल्कि हिंदी के आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक के साहित्य को उसके जातीय स्वरूप में देखा। अभी तक प्रगतिवादी समीक्षक अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों खासकर संस्कृत के कवियों, तुलसी आदि को उदण्डतापूर्ण तरीके से प्रतिक्रियावादी कहकर उनका उपहास उड़ाते आ

रहे थे। डॉ० शर्मा ने प्रगतिवाद की कमजोरी को न सिर्फ दूर किया बल्कि बडे लगन और परिश्रम से प्रगतिवादी समीक्षा को हिन्दी आलोचना में प्रतिष्ठित भी किया।

डॉ० शर्मा साहित्य मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से 'यथार्थवाद' के कायल रहे हैं। उनका यथार्थवाद कोरा यथार्थरूप न होकर सामाजिक यथार्थ रहा है। सामाजिक यथार्थ क्या है? प्रगतिशील विचारक अमृतराय कहते है "यथार्थ के गरल को परिकर, जनक्रान्ति और सर्वहारा वर्ग की जीत में आस्था बनाये रखना सामाजिक यथार्थवाद का मुख्य गुण है। इस आस्था का आधार है इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन।"[24] 'सामाजिक–यथार्थ' की दृष्टि से डॉ० शर्मा 'प्रेमचन्द्र' को प्रगतिशील और यथार्थवादी मानते हुए कहते हैं "एक ओर उनमें बीते युग की आदर्शवादी भावना है जो ठीक–ठीक बुद्धिवादी दृष्टिकोण से यथार्थ का सामना करने से हिचकती है, दूसरी ओर उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण है जो सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर तीव्र प्रकाश डाल उसकी विभत्स नग्नता को हमारे सामने ला खड़ा करता है।"[25]

यथार्थवादी दृष्टिकोण से डॉ० शर्मा ने न सिर्फ आधुनिक काल को विवेचित किया बल्कि हिन्दी साहित्यकारों की जातीय परम्परा जिसमें कबीर, तुलसी, भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथलीशरण गुप्त, आचार्य शुक्ल, प्रेमचन्द्र, पन्त, निराला, नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन आदि आते है को 'प्रगतिशील' स्वीकार किया है। डा० शर्मा का मानना है कि "इन्होंने सामान्य जनता में सामाजिक चेतना या राजनीतिक चेतना फैलाने के लिए किस तरह से साहित्य रूपों को इस्तेमाल किया, किस तरह की भाषा लिखी, गद्य में किस तरह अनेक विधाओं का उपयोग किया और यह सब इस बात की चिन्ता किये बिना कि यह शाश्वत मूल्यों वाला साहित्य है कि नहीं, यह सब इसे सीखा जा सकता है।"[26]

डॉ० रामविलाश शर्मा के आलोचना कर्म का सबसे उदान्त स्वरूप 'निराला' की विवेचना में मिलता है। जिस सहृदयता, तटस्थता से आचार्य शुक्ल ने 'तुलसी' का, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' का विवेचन किया है उसी परम्परा का विकसित रूप डा० शर्मा का 'निराला की साहित्य साधना' है। 1947 में डॉ० शर्मा ने

'निराला' नाम से एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी थी। पुस्तक लिखने का कारण डॉ० शर्मा के अनुसार यह था कि "जितने रीतिवादी थे वे तो 'निराला' पर आक्रमण करते ही थे, बहुत से तथाकथित राष्ट्रवादी भी यह समझते थे कि हमारा 'महाकवि' वाला आसन 'निराला' छीने ले रहे हैं।"[27]

वस्तुतः यह पुस्तक उस दौर कि है जिस काल में शर्मा जी की आलोचना शैली 'विध्वंसात्मक' थी। तीक्ष्ण, कटीली शब्दावली में शर्मा जी ने सन् 1953 तक अपनी इसी शैली में ही आलोचना लिखी। इसका कारण बताते हुए डॉ० शर्मा ने प्रकाश मनु से एक साक्षात्कार में कहा कि "मैं प्रगतिशील लेखक संघ का महासचिव था। एक चरण सन् 34 से 43 तक का है। सन् 43 में आगरा आया और प्रगतिशील लेखक संघ में अधिक सक्रिय भूमिका निभाने लगा। यह चरण 1953 तक चला। इस समय बहुत से विवाद प्रगतिशील लेखकों के बीच थे। उन पर भी मैंने लिखा। जिसे मारधाड की आलोचना आप कह रहे हैं, वह भी इसी समय की है।"[28] वैसे मारधाड़ की शैली से परवर्ती रामविलाश शर्मा ने कुछ परहेज अवश्य किया लेकिन इससे मुक्त नहीं हो पाये।

'निराला की साहित्य साधना' तीन खण्डों में लिखी गयी है। पहला खण्ड निराला की जीवनी से संदर्भित है तो दूसरा निराला की विचारधारा और कला से तीसरे खण्ड में पत्रों का संग्रह है। जीवनी में डा० शर्मा ने निराला की गाथा को हिन्दी साहित्य के संघर्ष की गाथा बताया है। "जो सारी शक्ति हमारी हिन्दी भाषा और साहित्य की है, वह निराला में आकर जैसे केन्द्रित हो गयी है। वे उसके एक मात्र प्रतिनिधि नहीं हैं पर वे उसके सबसे बड़े प्रतिनिधि हैं।"[29] छायावाद के ऊपर सबसे बडा आरोप उसके रहस्यवादी विचारों को लेकर लगा था। डा० शर्मा ने निराला के विवेचना क्रम में इस आरोप को निराधार बताया है। निराला के कलात्मक सौन्दर्य को रेखांकित करते हुए डा० शर्मा का मानना है कि "निराला के कलात्मक सौन्दर्य का गहराई से विश्लेषण करने पर मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को किन समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। इसे निराला के सन्दर्भ से जाना जा सकता है[30]"। निराला की महत्ता बताते हुए डा० शर्मा ने निराला को 'ट्रेजिक कवि' माना। वस्तुतः महाकवि ही ट्रेजिक कवि हो सकता है। डा० शर्मा के अनुसार "उदान्त

करूणा संघर्ष की क्षमता दुःख का गहन बोध ट्रेजिडी के मूल उपकरण हैं। 'निराला' को ये उपकरण सघन मात्रा में प्राप्त थे। वह अपने युग के सबसे बड़े ट्रेजिक कवि हैं।"[31]

अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण से डा० शर्मा ने न सिर्फ निराला के साहित्य को ही जॉचा–परखा बल्कि साहित्य के मूल भावों को केन्द्र में रखकर हिन्दी की जातीय अस्मिता की भी तलाश की। इस दृष्टि से निराला की साहित्य साधना सिर्फ निराला की ही न होकर हिन्दी काव्यधारा की भी साहित्य साधना है।

रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा तुलसी के समर्थन के साथ–साथ निर्गुणवादी धारा के विरोध के कारण प्रगतिशील विचारक शुक्ल जी को हिन्दूवादी आलोचक मानते आ रहे थे। शर्मा जी ने इसका विरोध कर शुक्ल जी के निष्कर्षों को सही ठहराया शर्मा जी का यहॉ तक मानना है कि "हिन्दी साहित्य में शुक्ल जी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचन्द्र या कवि निराला का। उन्होंने आलोचना के माध्यम से उसी सामन्ती संस्कृति का विरोध किया जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचन्द्र और निराला ने।"[32]

'नयी कविता और अस्तित्ववाद' में नयी कविता के इतिहास को बताते हुए डा० शर्मा का मानना है कि "जहॉ तक मुझे मालूम है कि सन् 47 से पहले प्रयोगवाद शब्द का व्यवहार नही हुआ। सन् 46 में शमशेर ने तारसप्तक की जो आलोचना 'नया साहित्य' में की थी उसमें प्रयोगों का जिक्र है। प्रयोगवाद का नहीं। 'प्रयोगवाद' शब्द की जरूरत तब हुई जब 'प्रगतिवाद' के विरोध में एक नये 'वाद' को स्थापित करना जरूरी हुआ।"[33] इसी प्रयोगवाद की अगली कड़ी 'नयी कविता' है जिसको जगदीश गुप्त ने शुरू किया और आशिर्वाद अज्ञेय ने दिया। 67 तक आते–आते "नयी कविता भी मृतपाय सी हो गयी। राजीव सक्सेना के अनुसार "अब (सन् 1967 में) तो किसी को यह कहने का साहस नहीं है कि नयी कविता जीवित है।"[34]

'नयी कविता और अस्तित्ववाद' में नयी कविता के इतिहास के साथ–साथ डॉ० शर्मा ने अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन का मूल्यांकन भी किया है। अज्ञेय की कविता को प्रगति विरोधी बताने के साथ–साथ उसे रहस्यवादी मानते हुए डॉ०

शर्मा ने प्रसाद के रहस्यवाद से अज्ञेय के रहस्यवाद को अलग बताया। विजयदेव नारायण साही ने अपने विवेचन मे स्वीकार किया था कि "कामायनी" में जो अनुभूति दर्शन मे परिवर्तित हो जाती है, उसे अज्ञेय फिर दर्शन से अनुभूति में परिवर्तित करते हैं।"[35] डा० शर्मा की टिप्पणी है "चतुर कवि यही करते हैं अनुभूति किसी की हो, दार्शनिक सत्य किसी का उसे वे उतार लाते हैं अपनी अनुभूति के स्तर पर[36]"।

मुक्तिबोध को भाववादी कवि मानते हुए डा० शर्मा ने मुक्तिबोध के संघर्ष को अनेक स्तरों का संघर्ष माना है। "एक स्तर है– निम्न वर्ग की भूमि को छोड़कर सर्वहारा वर्ग से तादात्म स्थापित करने का, दूसरा स्तर है मन के दुःस्वपनों, पाप–बोध, मृत्यु–चिन्तन, असामान्य मानसिक स्थिति से निकलकर स्वयं को और संसार को वस्तुगत रूप से देखने का, तीसरा स्तर है – अपनी काव्यकला को निरन्तर विकसित करने का[37]"। वस्तुतः मुक्तिबोध के इसी आत्मसंघर्ष की परिणति उनकी कविता का मूल है। शमशेर के बारे में डा० शर्मा का कहना है कि उनका काव्य रीतिवादी रूमानी, सौन्दर्यबोध और मार्क्सवादी विवेक के द्वन्द्व का काव्य है। शमशेर के काव्यकला के संदर्भ में डा० शर्मा की टिप्पणी है कि "शमशेर जितनी खूबसूरती से उर्दू के रीतिवाद का प्रभाव ग्रहण करते हैं उतनी खूबसूरती से हिन्दी के रीतिवाद या छायावाद का प्रभाव ग्रहण नहीं कर पाते[38]"। इसी विवेचन क्रम में डा० शर्मा ने शमशेर को बिम्बों का रहस्यवादी कवि माना है। नागार्जुन के कवि महत्व को रेखांकित करते हुए डा० शर्मा ने लिखा है "जब नयी कविता का अस्तित्ववादी सैलाब सूख चुका होगा, जब मध्य वर्ग और किसानों और मजदूरों में भी जन्म लेने वाले कवि दृढता से अपना सम्बन्ध जन आन्दोलनों से कायम करेंगे तब उनके सामने लोकप्रिय साहित्य और कलात्मक सौन्दर्य के संतुलन की समस्या फिर पेश होगी और तब साहित्य और राजनीति में उनका सही मार्गदर्शन करने वाले अपनी रचनाओं के प्रत्यक्ष उदाहरण से उन्हें शिक्षित करने वाले उनके प्रेरक और गुरू होंगे कवि 'नागार्जुन'[39]"। क्योंकि "हिन्दी साहित्य की जीवन्त परम्परा और भारतीय जनता के साहसी अभियान के प्रतीक हैं–कवि नागार्जुन[40]"।

डॉ० शर्मा के पूर्व हिन्दी आलोचना मूलतः कवितावादी रही है। साहित्य की अन्य विधाओं पर चलताऊ तरीके से ही विचार होता आया है। वह गम्भीरता व

तेजस्विता नहीं मिलती जो कविता की आलोचना में मिलती है। डा० शर्मा ने अपने गम्भीर चिन्तन से साहित्य के गद्य लेखकों पर भी मार्क्सवादी दृष्टि से कलम चलाई। इनके मूल्यांकन में लेखकों की प्रवृत्ति और उनकी विचारधारा पर अधिक जोर है। निराला के कथासाहित्य का मूल्यांकन करते हुए डा० शर्मा ने लिखा है कि "जो यथार्थवादी धारा अप्सरा, अलका के छायालोक मे धुँधली थी वह यहाँ (देवी, चतुरी चमार) पूरी शक्ति से यथार्थ की धरती पर प्रवाहित है[41]"। कुल्लीभाट छायावादोत्तर गद्य का सबसे सर्जनात्मक रूप है। डा० शर्मा के अनुसार "रेखाचित्र, संस्मरण, आत्मचरित्र, जीवनचरित्र, लघु उपन्यास अनेक विधाओं के तत्व लेकर रची कुल्लीभाट की कथा हिन्दी में यथार्थवादी साहित्य के विकास में नयी कड़ी साबित हुई[42]"। वृन्दालाल वर्मा के कथा साहित्य की कला "यथार्थवादी और रोमांटिक कल्पना का मिश्रण है[43]" तो प्रेमचन्द की "क्रान्तिकारिता, यथार्थता व्यक्त हुयी है दमन के चित्रण में[44]"। इसी दृष्टि से डा० शर्मा ने अमृतलाल नागर के उपन्यासों की समीक्षा की है। डॉ० शर्मा ने अपने समकालीनों–समवय के रचनाकार की रचनाओं पर बराबर दृष्टि रखी लेकिन वाहवाही लूटने के लिए उनकी पीठ नहीं थपथपाई ।

डा० शर्मा ने अपने चिन्तन मनन से हिन्दी साहित्य का विवेचन तो किया ही 'भाषा' पर भी दृष्टिपात किया लेकिन उनका सबसे महत्वपूर्ण अवदान हिन्दी आलोचना के सन्दर्भ से यह है कि अपने 'यथार्थवादी' बीज शब्द के आधार पर उन्होंने एक ऐसी शैली का निर्माण किया जिससे हिन्दी आलोचना आम जनता के लिए पठनीय बन सकी है। डा० निर्मला जैन के अनुसार "हिन्दी आलोचना की भाषा के निर्माण में रामविलाश शर्मा का योगदान महत्वपूर्ण है। शास्त्रीय दुरूहता से मुक्त बोल–चाल के पारदर्शी गद्य में जटिल से जटिल बात को सुलझा कर कहने की कला में डा० शर्मा बेजोड़ हैं। उनके हाथों से आलोचना जन सामान्य के लिए भी पठनीय बन सकी[45]"। विश्वनाथ त्रिपाठी का तो यहाँ तक मानना है कि "इस समय इतना अर्थगर्भित निर्दोष और आडम्बरहीन गद्य लिखने वाल हिन्दी में दूसरा कोई नहीं दिखलाई पड़ता। वे विशेषणों का प्रयोग यथा सम्भव कम करते हैं। व्यर्थ पदावलियों के सहारे अपनी शैली का मेकअप नहीं करते[46]" तो रामदरश मिश्र कहते है कि "शर्मा जी में मौलिकता है, वे पिटे–पिटाये, घिसे–घिसाये मार्ग से चलना पसन्द नहीं

करते, उनकी अभिव्यक्ति की प्रणाली बडी ही स्पष्ट, प्रत्यक्ष और तीखी है और पाठकों को सीधे प्रभावित करती है[47]"।

डॉ० शर्मा की आलोचना शैली ही नहीं बल्कि उन्होंने 'भाषा' से लेकर भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य शुक्ल, निराला, प्रेमचन्द्र के साथ–साथ अपने समकालीन रचनाकारो का जो विशद् मार्मिक, तटस्थ और सटीक विवेचन मार्क्सवादी दृष्टि से किया है–जो एक तरह का क्रमबद्ध इतिहास सा जान पड़ता है–का महत्व हिन्दी आलोचना में अप्रतिम है।

डा० शर्मा के हिन्दी आलोचना में अवदान के महत्व को रेखांकित करते हुए नन्द किशोर नवल का मानना है कि "हिन्दी आलोचना को उनकी सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने साहित्य मे शुक्ल जी के भौतिकवादी दृष्टिकोण को वैज्ञानिक रूप से विकसित कर उसे सामाजिक परिवर्तन के एक सांस्कृतिक अस्त्र के रूप में अधिक कारगर बना दिया है[48]"।

गजानन माधव मुक्तिबोध

हिन्दी आलोचना में 'कवि आलोचक' की परम्परा अपने प्रारम्भिक समय से चली आ रही है। स्वयं भारतेन्दु का 'नाटक' इसका प्रमाण है। महवीर प्रसाद द्विवेदी भी स्वयं कविता करते थे। लेकिन एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि ये 'कवि–आलोचक' अपनी कविताओं के बारे में आलोचना न करके साहित्य के सम्पूर्ण स्वरूप को लेकर विवेचना करते थे। 'छायावाद' के कवियों ने जो आलोचना की है वह अपनी कविताओं, विचारों, दर्शन, अनुभूति को लेकर है – एक नयी पद्धति का द्योतक है लेकिन इसे स्वस्थ परम्परा का नाम नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः छायावाद की 'मनोभूमि' को तत्कालीन आलोचकों ने उसे उसकी सम्पूर्णता में नहीं समझा जिसके चलते उन्होंने छायावाद को 'विदेशी' संज्ञा दे दी। इसी बात को केन्द्रित कर पन्त, प्रसाद, निराला ने अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए स्वयं आलोचक का दायित्व निभाने का प्रयास किया। प्रगतिशील कवियों ने अपने को इस 'मोहग्रस्तता' से बचाया। पर 'नई कविता' के दौर में कवि–आलोचकों की एक नई पीढ़ी अग्रसर होती दिखाई देती है। लेकिन इनका छायावाद के कवि–आलोचकों से अन्तर यह है कि ये

अपनी कविताओं के बजाय अपने समकालीन साहित्य को जाँचने परखने में विश्वास करते है। 'नई कविता' के प्रमुख कवि–आलोचकों में मुक्तिबोध, विजय देव नारायण साही ऐसे दो प्रमुख आलोचक रहे हैं जिन्होंने अपने बौद्धिक विवेक से न केवल अपने समसामयिक रचनाकाल पर हस्तक्षेप किया है बल्कि 'आलोचना' को एक नई भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया है। मूलतः ये कवि थे लेकिन 'आलोचना' में इनका 'कवि' बाधक न होकर न एक 'सर्जक–साधक' के रूप में प्रस्तुत होता है। इसलिए ये साहित्य के 'चिन्तक' अधिक लगते हैं आलोचक कम। आलोचक कम इस दृष्टि से इनकी व्यावहारिक समीक्षा – जैसे किसी कृति या लेखक को लेकर आलोचना की कोई पुस्तक लिखना–बहुत ही नाम मात्र की है। लेकिन साहित्य का स्वरूप कैसा हो, उसकी अपनी परम्परा कैसी है–कविता का समाज, राजनीति का समाज–साहित्य में कैसे स्थान पाता है साथ ही किसी कवि की रचना समय से कैसे टकरा कर एक नई रचना बन जाती है, जैसे विषयों पर इन दोनों कवि–आलोचकों ने एक लम्बी बहस चलाई, जिसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता के बाद का प्रारम्भिक दशक आलोचना के क्षेत्र में 'मुठभेड़ का दशक' सा जान पडता है।

मुक्तिबोध ने जयशंकर प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' को लेकर मार्क्सवादी दृष्टि से 'कामायनी एक पुनर्विचार' में जो विचार व्यक्त किये हैं, उससे उनके आलोचकीय दृष्टि की क्षमता का पता चलता है। कामायनी पर उनका यह आलोचनात्मक चिन्तन बहुत पहले से ही चला आ रहा था। हंस के नवम्बर 1945 और फरवरी 1946 में 'कामायनी' कुछ नये विचार शीर्षक से इनके दो लेख मिलते हैं। जिसकी अन्तिम परिणति 1961 में 'कामायनी एक पुनर्विचार' के रूप में है। आखिर ऐसे कौन से कारण थे कि मुक्तिबोध को कामायनी पर पुनर्विचार करने पड़े। मुक्तिबोध का कहना है कि "कामायनी" साहित्य के 'रसवादी–छायावादी' पुराणपंथियों के हाथ में नवीन–प्रगति–शक्तियों के विरूद्ध एक शास्त्र बन गयी[49]"। और "भाववादी आलोचकों ने प्रसाद जी से भी आगे बढ़ कर 'कामायनी' का रहस्यवादी मनोवैज्ञानिक अर्थ लगाया और उसके उपयोगी तत्वों को प्रच्छन्न कर दिया[50]"। साथ ही उन्होंने 'कामायनी' के सम्बन्ध में हर तरह की ऊँचे किस्म की गलतफहमियाँ भी फैलाई[51]"।

इन्हीं गलतफहमियों को दूर करने के प्रयास का प्रतिफलन है 'कामायनी एक पुनर्विचार।'

प्रसाद के मनु श्रद्धा और इडा को ऐतिहासिक पात्र मानने की वकालत की परम्परा का विरोध करते हुए मुक्तिबोध ने माना कि "वेदकालीन मनु कामायनी का मनु नहीं है। उसे मनन मात्र का, मनभ्रान्त का, मानव-मात्र का प्रतिनिधि मानना सरासर गलत है[52]"। तो यह मनु कैसा है? "प्रसाद का मनु उसी वर्ग का मनु है, जिस वर्ग के स्वयं प्रसाद हैं[53]"। तात्पर्य यह कि मनु मध्य व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधि है या अधिक से अधिक मध्यवर्गीय भारतीय जनमानस का प्रतिनिधि। प्रसाद के वर्ग से कामायनी के मनु को जोड़ते हुए मुक्तिबोध उसे अपने समय के श्रेष्ठ पूँजीवादी वर्ग का पुत्र ही नहीं बल्कि "सामन्त-व्यवस्था के शासक वर्गों का पुत्र[54]" माना, जो कि "नई ऐतिहासिक, सामाजिक स्थिति के कारण पूँजीवाद, व्यक्तिवाद, सामन्तवर्गीय प्रवृत्तियों की तानाशाहियत को अपने खून में लिये हुए है[55]"। और ये प्रवृत्तियाँ है "अहंकार, विलासिता, आत्ममोह, निर्बंध, उच्छृखलता व्यक्तिवादी साहस, व्यक्तिवादी निराशा, पाखण्ड और ऐसा आत्मग्रस्त निविड़ आत्म विश्लेषण जो पराजय से प्रसूत होकर पराजयों की ओर ले जाता है[56]"।

वस्तुतः मुक्तिबोध ने कामायनी को रूपक मानने से इंकार करते हुए उसे 'फैंटेसी' माना है। मुक्तिबोध स्वयं फैंटेसी के कवि है। स्वाभाविक था कि कामायनी को फैंटेसी के रूप में विश्लेषित करने के क्रम में उनका 'कवि व्यक्तित्व' उनके 'आलोचनात्मक-व्यक्तित्व' को प्रभावित करता। फैंटेसी के रूप में कामायनी को देखने से मुक्तिबोध को इस काव्य में आत्मपरकता के दर्शन होते हैं। "कामायनी अपनी कथात्मकता-चरित्रात्मकता के बावजूद भी वस्तुतः प्रमुख रूप से आत्मपरक काव्य है[57]"।

मुक्तिबोध 'कामायनी' के मनौवैज्ञानिक अंतदृष्टि को ध्यान में रखने के बावजूद मनु को 'वर्ग-चरित्र' के रूप में देखते हैं। जिसमें ध्वस्त सामन्तवाद के चारित्रिक रूप की झलक मिलती है। इसी सूत्र से उन्होंने 'कामायनी' के नारीपात्रों 'इड़ा और श्रद्धा' को भी देखा है। महाकाव्य में जितने पात्र आये हैं उनमें "इड़ा का व्यक्तिगत चरित्र

दृढतम और उज्जवलतम है[58]" और श्रद्धा "आत्मबद्ध भावुकता के आदर्शीकरण का नाम है[59]"। श्रद्धा की आत्मबद्धता इस हद तक है कि उसका "कोई अपना सार्वजनिक जीवन नहीं है[60]" और इस दृष्टि से उसके वाचिक विधान "ज्ञान, क्रिया, इच्छा" का कोई अर्थ नहीं रह जाता। मुक्तिबोध के लिए कामायनी की समस्या और उस समस्या से मुक्ति का द्वन्द्व जिसके "अन्तर्विरोध के तनाव की कोख से कामायनी का जन्म हुआ है" की अन्तिम परिणिति सन्देहास्पद हो जाती है क्योंकि "इच्छा, ज्ञान, क्रिया का सामंजस्य वास्तविक जीवन–क्षेत्र में होता है, न कि संसार से पलायन करके हिमालयीन शिखरों पर[61]"।

प्रसाद ने स्वयं कामायनी के आमुख में स्वीकार किया है" यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं[62]"। कामायनी पर विचार करने के क्रम में मुक्तिबोध पूर्व इसी सूत्र का इस्तेमाल होता आया था। मुक्तिबोध ने अपने आलोचकीय विवेक और कवि व्यक्तित्व से इस सूत्र से कामायनी की रचना प्रक्रिया को अलगा कर उसे रूपक–प्रतीकवाद से मुक्त करने का प्रयास किया। लेकिन मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विवेचन खासकर 'हिमालय की तरफ पलायन' बहुत कुछ पूर्वग्रह सा जान पड़ता है। ध्यातब्य है कि रामधारी सिंह दिनकर ने अपने निबन्ध 'कामायनी दोषरहित–दूषण सहित' में मनु–श्रद्धा के पलायनवाद के विषय में लिखा है कि "विचारने की बात यहॉ यह है कि हिमालय के शिखर पर कितनी आबादी थी, जिसकी सेवा मनु और श्रद्धा कर रहे थे। कवि का भाव, कदाचित, यह है कि जो तीर्थयात्री वहाँ पहुँचते थे, उन्हे दंपति युगल धर्मोपदेश दिया करते थे। उपदेश देना भी सेवा के अन्दर गिना जा सकता है, किन्तु सेवा का वह कर्म नहीं ज्ञान पक्ष है[63]"। लगभग इसी बात को मुक्तिबोध ने अपने विवेचन में दुहरा दिया है। वस्तुतः 'कामायनी' को प्रतीकात्मक अर्थ में न स्वीकारने के कारण ही यह दृष्टि भ्रम हुआ है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने मुक्तिबोध के कामायनी सम्बन्धी विवेचन को महत्वपूर्ण माना है "गजानन माधव मुक्ति बोध ने कामायनी की समझ को बढ़ाने में निश्चय ही योग दिया है। विशेषतः उसे फंतासी के रूप में व्याख्यायित करके उन्होंने रचना के स्थूल कथानक का रंग काफी

हल्का कर दिया है[64]" इसकी सार्थकता को स्वीकार करते हुए हुए भी चतुर्वेदी जी इसमें 'मार्क्सवादी–दृष्टि का पूर्वग्रह' मानते हैं "मुक्तिबोध की यह समीक्षा निश्चय ही विचारोत्तेजक है तथा और भी सार्थक हो पाती, यदि वे अपने मार्क्सवादी चिंतन को यहाँ आख्यान पर स्थापित करने का आग्रह न करते[65]"।

मुक्तिबोध आलोचक से इस बात की उम्मीद करते हैं कि वह कवि से अधिक उस जीवन को जाने जिस जीवन की बात कवि करता है, जो आलोचक इस बात को नहीं जानते वे मूलतः यांत्रिक विवेचन करते हैं। इस एकांगी दृष्टिकोण से साहित्य की समीक्षा नहीं की जा सकती। मुक्तिबोध मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य के साथ–साथ सामाजिक सम्बन्धों को एकाकार के पक्षपाती रहे हैं क्योंकि "जब तक हम समीक्ष्य साहित्य का मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यात्मक विवेचन के द्वारा समाजशास्त्रीय विश्लेषण नहीं करते तब तक हम उसके अन्तः स्वरूप का उसकी क्षमताओं तथा सीमाओं का पूरा विवेचन तथा मूल्यांकन भी नहीं कर सकते"।[66]

एक सतत् विकासमान चिंतन प्रणाली के आलोचक मुक्तिबोध ने मूलतः अपने विचार आधुनिक कविता यथा–छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद नयी कविता' पर व्यक्त किये हैं। लेकिन इनके विवेचन में उन्होने हिंदी कविता की परम्परा को ध्यान में रखा है। "नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध" में मुक्तिबोध ने नई कविता के सामर्थ्य और सीमा का विशद विश्लेषण किया है साथ ही अपने समकालीन आलोचकों की आलोचना दृष्टि की सीमा को भी रेखांकित किया है। नई कविता के मूल्यांकन में प्रगतिवादी आलोचकों से इस बात को लेकर मुक्तिबोध को शिकायत थी कि "ये समीक्षक नवीन जीवन प्रक्रियाओं को नहीं समझ सके और प्रयोगवादी कविता या नई कविता के पूरे क्षेत्र को बदनाम करके उसे 'प्रतिक्रिया' के हाथों में खेलने के लिए छोड दिया, अपने हाथों, जानबूझकर, उसके हवाले कर दिया।"[67] और यही नहीं उन्हें इस बात से भी शिकायत थी कि प्रगतिवादी आलोचक एक जुट होकर प्रतिक्रियावादी आलोचकों से नहीं टकराते। सिर्फ रामविलाश शर्मा ही ऐसे जान पड़े जो 'चिढ़ते–खीझते', 'तड़पते–छटपटाते' हुए अपनी शक्ति के अनुसार"[68] प्रतिक्रियावादियों से लोहा लेते हैं। मुक्तिबोध का मानना है कि "यह एक व्यक्ति का काम नहीं है। डॉ० राम विलाश शर्मा, श्री शिवदान सिंह चौहान, श्री प्रकाश चन्द गुप्त, श्री अमृत

राय, डॉ0 नामवर सिंह तथा इनके अतिरिक्त यशपाल और नागार्जुन जैसे लेखक कलाकार क्या कभी इकट्ठा होकर, सम्मिलित रूप से काम नहीं कर सकते थे। क्या इस सम्बन्ध में, इस क्षेत्र में, संगठित और सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता नही है।''[69]

इसी आलोचनात्मक निबन्ध संग्रह में ''मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलू' में न सिर्फ मध्ययुगीन साहित्य के कवियों की सामाजिक दृष्टि पर विचार किया गया है बल्कि इस साहित्य के प्रमुख दो आलोचकों रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक विश्लेषण की सीमा भी बतायी गयी है। मुक्तिबोध का कहना है कि ''पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कहना ठीक है कि भक्ति धारा बहुत पहले से उद्‌गत होती रही और उसकी पूर्व भूमिका बहुत पूर्व से तैयार होती रही, किन्तु उनके द्वारा निकाला गया यह तर्क ठीक नहीं मालूम होता कि मध्ययुगीन भक्तो की भावना मे जनता के सांसारिक कष्टों के तत्व नहीं है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन में हमें पर्याप्त सत्यतता मालूम होती है कि भक्ति आन्दोलन का मूल कारण जनता का कष्ट है । किन्तु पं0 शुक्ल ने कष्टों को मुस्लिम विरोधी और हिन्दू राजसत्ता के पक्षपाती जो अभिप्राय निकाले हैं वे उचित नहीं मालूम होते।''[70]

मुक्तिबोध के लिए आलोचना की प्रक्रिया बहुत कुछ काव्य–रचना प्रक्रिया की तरह है। 'एक साहित्यिक की डायरी' के उनके चिंतन में इसे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। कभी–कभी विचारों की एक ऐसी लम्बी प्रक्रिया चल पड़ती है जैसी उनकी लम्बी और कभी न पूर्ण होने वाली कविताओं की। 'एक सतत जागरूक कलाकार' की हैसियत से काव्य रचना के तीन क्षणों का विश्लेषण करते हुए मुक्तिबोध अपनी डायरी में लिखते हैं ''कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव–क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैण्टैसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टैसी अपनी ऑखों के सामने ही खडी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैण्टैसी के शब्द होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।''[71] रामविलाश शर्मा मुक्तिबोध के फैण्टैसी के अत्यधिक मोह के कारण ही यह मानते है कि वे यथार्थ को फैण्टैसी में बदले बिना ही उसे नहीं पकड़ पाते। मुक्तिबोध ने स्वयं स्वीकार भी किया

है कि "फैण्टैसी में संवेदनात्मक ज्ञानात्मक संवेदनाएं रहती है। कृतिकार को लगातार महसूस होता रहता है कि उसका अनुभव सभी के लिए महत्वपूर्ण और मूल्यवान है।"[72] मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में कविता के बजाय 'कवि–व्यक्तित्व' पर अधिक जोर दिया है, रचना के बजाय 'रचना प्रक्रिया' को समझना जरूरी माना है। मुक्तिबोध ने जो विचार एक साहित्यिक की डायरी, नयी कविता का आत्म संघर्ष और नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में व्यक्त किये हैं वे मूलतः रचना और समीक्षा के द्वन्द्व पर आधारित है। इस द्वन्द्व का सर्वश्रेष्ठ रूप एक साहित्यिक की डायरी है। डा० नामवर सिंह के अनुसार "प्लेटो के डायलाग' को छोड़कर मुझे याद नहीं कि मैने इस तरह कहीं हिस्सा लेने की विवेचना का सुखद अनुभव किया हो। लगातार प्रहार करते हुए आतमीयता का वैसा ही सम्मोहन और वैसा ही दुर्निवार निमन्त्रण विचार–प्रक्रिया में स्वतः भाग लेने का। दूसरे से प्रश्न करने के साथ–साथ अपने–आप उस प्रश्न का वैसा ही वार।"[73]

डॉ० निर्मला जैन ने मुक्तिबोध के आलोचनात्मक व्यक्तित्व को महत्वपूर्ण मानते हुए लिखा है कि "उनके सारे आलोचनात्मक कृतित्व को देखते हुए निस्संदेह कहा जा सकता है कि नये प्रगतिशील कवि–आलोचकों में वे सब से प्रखर और गम्भीर आलोचक थे। किसी कवि में आलोचना की ऐसी चिन्तन शक्ति दुर्लभ है।"[74] निःसंदेह मुक्तिबोध हिन्दी आलोचना के 'सभ्यता–समीक्षक' हैं और अपनी 'विश्व दृष्टि' से उन्होनें हिंदी आलोचना को संवेदनात्मक ज्ञान से परिपूर्ण किया है।

नामवर सिंह

'हिन्दी आलोचना' में नामवर सिंह का स्थान अप्रतिम है। नामवर सिंह का हिंदी आलोचना' में पहला प्रयास 'छायावाद' को लेकर है। पर इनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य अपने सम–सामयिक काव्यधारा 'नयी कविता' को लेकर है। महत्वपूर्ण बात यह थी कि नामवर सिंह के पहले हिंदी आलोचना में 'नयी कविता' पर जो विचार–विमर्श हो रहा था वह एक तरह का एकांगी विचार–विमर्श था। प्रगतिशील आलोचकों ने इस काव्यधारा को लगभग खारिज सा कर दिया था। 'नयी कविता' को स्थापित करने के प्रयास में 'नयी कविता' धारा के कवियों ने स्वयं ही पहल की। परिणाम

स्वरूप छायावादी कवियों की आलोचना जैसी 'पुनरावृत्ति' सी होने लगी। नामवर सिंह ने हस्तक्षेप करते हुए नयी कविता की भाव–भूमि को समझा साथ ही उसका अन्तर अपने पूर्ववर्ती काव्यधारा से दिखाया, और उसे अज्ञेय संचालित न मानकर 'मुक्तिबोध' केन्द्रित बताया। आलोचकीय दृष्टि के विकास में नामवर सिंह ने न केवल अपने सहयोगियों के विचारों का उपयोग किया बल्कि अपने वैचारिक–विरोधियों के विचारो का भी यथासंभव उपयोग किया। जिससे नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि इतनी पैनी हो गयी कि हिन्दी आलोचना में पिछले पचास वर्षों में उनके तईं कोई 'आलोचकीय व्यक्तित्व' नहीं दिखाई देता है। एक और महत्वपूर्ण कार्य नामवर सिंह का कहानी विषयक आलोचना रही है। हिंदी आलोचना में 'कथा साहित्य' की आलोचना की परिपाटी नामवर पूर्व कोई स्वस्थ स्थिति में नहीं थी। लेकिन नामवर सिंह ने इस कार्य में प्रवेश कर उसे महत्ता दिलायी।

वैसे तो नामवर सिंह की कायदे से 'छायावाद' (1955) पहली आलोचनात्मक पुस्तक है। लेकिन उनके आलोचकीय क्षमता की झलक उनके शोध–प्रबन्ध 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' में ही मिलने लगती है। डा० विश्वनाथ त्रिपाठी ने नामवर सिंह के प्रारम्भिक शोध परक कार्यों को आलोचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हुए लिखा है कि "हिन्दी की नव्यतम रचनाओं के आलोचक डॉ० नामवर सिंह ने अपना आलोचक जीवन 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' से शुरू किया था। इसके अलावा उन्होनें पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो का सम्पादन किया है। तेस्सोतेरी के प्रसिद्ध भाषा शास्त्रीय ग्रन्थ 'प्राचीन राजस्थानी' का हिन्दी में अनुवाद किया है। ब्रेख्त और एफ०आर० लिविस के परम प्रशंसक नामवर सिंह ने अपना शोध–निबन्ध पृथ्वीराज रासो की भाषा पर लिखा है।"[75] 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' के शोध प्रबन्ध होने के कारण विचार–विश्लेषण का मौका कम मिला है, लेकिन जहॉ भी मिला है वहां पर बड़ी ही सहृदयता से विचार–विश्लेषण किया गया है। आचार्य शुक्ल ने आदिकाल को 'वीरगाथा काल' नाम दिया था क्योंकि इस काल की प्रवृत्ति 'वीरगाथा' की रही है। नामवर सिंह ने वीरगाथाओं को 'क्षीयमाण मनोवृत्ति' का प्रतिबिम्ब माना है। नामवर सिंह के शब्दों में "आचार्य शुक्ल जैसे रस–सिद्ध सहृदय समीक्षक ने जब 'रासो' ग्रन्थों को सच्ची वीरगाथा के रूप में

निरूपित किया तो इसे आचार्य की सहृदयता का अतिरिक्त आरोहण ही समझना चाहिए। उन्हें यदि इन काव्यों में मध्ययुगीन युरोप के बैलेड काव्य की झलक दिखाई पडी तो इसे उनके अतीत–प्रेम का प्रमाण पत्र मानना चाहिए।"[76] वस्तुतः नामवर सिंह को रासो ग्रन्थों में कहीं–कहीं सामन्तों के शौर्य का सुन्दर प्रदर्शन और उनकी रसिकता का मार्मिक वर्णन तो मिलता है तो लेकिन उसका कोई सम्बन्ध जनता से नहीं देख पाते। नामवर सिंह का कहना है कि "ऐसी वीरगाथाओं को तत्कालीन जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिफलन कैसे स्वीकार किया जाय जबकि बख्तियार खलजी ने केवल सौ घोडों से समूचे अंग–बंग के राजाओं को एक लपेट में सर कर लिया और जनता के कानों पर जूँ नहीं रेंगी। जाहिर है कि सामान्य जनता की भावना का उन सामन्ती वीरगाथाओं से कोई मतलब नहीं था।"[77]

'छायावाद' पर उनका विचार–विमर्श इसी दृष्टिकोण को आगे बढ़ाने का उपक्रम है। 'भूमिका' का प्रारम्भिक वाक्य है "यह निबंध छायावाद की काव्यगत विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए छाया–चित्रों में निहित सामाजिक सत्य का उद्घाटन करने के लिए लिखा है।" इस पुस्तक में नामवर सिंह ने छायावादी कविताओं की पंक्तियों के आधार पर शीर्षकों का नाम रखा है। पहले अध्याय 'प्रथम रश्मि' में नामवर सिंह ने अपने पूर्व के लगभग सभी आलोचकों की 'छायावाद' सम्बन्धी परिभाषाओं का उल्लेख किया है लेकिन अपनी तरफ से उन्होंने कोई परिभाषा नहीं दी है क्योंकि "छायावाद की मनमानी परिभाषा करने की अपेक्षा उसके ऐतिहासिक और व्यवहारिक अर्थ को स्वीकार करना अधिक वैज्ञानिक है।"[78] नामवर सिंह को 'छायावाद' में अनेक प्रवृत्तियों का संयोग दिखाई दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद और स्वच्छन्दवाद को अलग–अलग माना है। नन्द दुलारे वाजपेयी ने तो शुक्ल जी की ही तरह 'अध्यात्मिक छाया' को स्वीकार किया लेकिन फर्क यह था कि वाजपेयी जी को उसमें 'धार्मिक स्थूलता' का तत्व नहीं मिलता, नगेन्द्र तो स्थूल के विरूद्ध सूक्ष्म का विद्रोह स्वीकार करते ही रहे हैं, पर नामवर सिंह एक ही काव्यधारा को खण्ड–खण्ड बॉटकर देखने के हिमायती नहीं है। "परन्तु जब युग विशेष की काव्यधारा के संबंध में इन शब्दों पर विचार किया जाता है तो रहस्यवाद, छायावाद और स्वछन्दतावाद तीनों एक ही काव्यधारा की विविध प्रवृत्तियां मालूम होती है।"[79]

पर तीनों प्रवृत्तियॉ एक नहीं हैं "जहॉ तक रहस्यवाद, छायावाद और स्वच्छन्दतावाद शब्दो के शब्दार्थ और लोक–प्रचलित भाव का सम्बन्ध है इन तीनों में निःसंदेह थोड़ा अंतर है। रहस्यवाद अज्ञात की जिज्ञासा है, तो छायावाद चित्रण की सूक्ष्मता और स्वच्छन्दतावाद प्राचीन रूढियों से मुक्ति की आकांक्षा।"[80]

द्विवेदी युगीन व्यैक्तिक, सामाजिक दृष्टिकोण को छायावाद ने 'व्यैक्तिकता' के स्तर पर घुला लिया। 'मैंने में शैली अपनाई' कहकर निराला ने अपने पूर्ववर्ती काव्य शैलीयों का निषेध सा कर दिया। पंत ने उच्छ्वास, ऑसू की बालिका से सीधे ही प्रणय निवेदन किया। आत्मकथात्मक शैली से लिखी हिन्दी कविता की अब तक की सर्वश्रेष्ठ 'शोक गीत' 'सरोज–समृति' एक तरह से निराला की आत्मकथा ही है। छायावादी आत्मकथात्मक प्रवृत्तियों का कारण नामवर सिंह के शब्दों में यह रही है कि "आत्माभिव्यक्ति की भावना इस युग में कितनी व्याप्त है, इसका पता इसी से चलता है कि 'आत्मकथा' लिखने की परम्परा सी चल पड़ी। गाँधी, नेहरू, रवीन्द्रनाथ, श्रद्धानन्द, श्याम सुन्दरदास, वियोगीहरि, राहुल सांकृत्यायन आदि न जाने कितने राजनीतिज्ञों, धर्मसुधारकों और साहित्यकारों ने अपनी आत्मकथा अथवा 'जीवन स्मृति' लिखी है।"[81] और "ये आत्मकथाएं इस युग में प्रचलित वैयक्तिक आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा की द्योतक है।"[82] इसकी परिणति यह रही कि "छायावादी कविता का आरंभ इसी व्यक्तिगत भावना से हुआ है।"[83] नगेन्द्र ने छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना है और नामवर सिंह भी लगभग इसी बात को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि "पल्लव की भूमिका में पंत ने ब्रजभाषा का जो इतना उग्र विरोध किया था यह केवल भाषा का विरोध नहीं था। ब्रजभाषा के साथ ही वे ब्रजभाषा के रीतिकाव्य की तथा उसके समर्थक रूढ़िरक्षक पंडितों का विरोध कर रहे थे। वस्तुतः उस युग में जो ब्रजभाषा और खड़ी बोली का संघर्ष हुआ वह प्राचीन संकीर्णता और आधुनिक विशालता का संघर्ष था।"[84]

छायावादी कवियों की स्वतन्त्रता की माँग का महत्व इस दृष्टि से है कि उन्होने न केवल व्यक्ति के मन की स्वतन्त्रता की बात कही बल्कि प्रकृति की स्वतन्त्रता का भी आग्रह किया। और इस स्वतन्त्रता की मांग के पीछे 'भारतीय समाज' की स्वतन्त्रता की मांग थी। नामवर सिंह के अनुसार "छायावादी कवि ने

जिस प्रकार प्रकृति को मुक्त किया उसी प्रकार नारी को भी। समाज में नारी–मुक्ति का जो आन्दोलन नारी–शिक्षा, विधवा–विवाह के रूप में आया वही छायावादी कविता मे देवि,मॉ,सहचरि प्राण' के रूप में प्रकट हुआ। रीतिकालीन कविता में 'नारी' नायिका थी उसके व्यक्तित्व की सम्पुर्णता आवृत थी। छायावादी कविता में नारी, देवि, मॉ, सहचरि, प्राण सभी कुछ हुई।'[85] नारी की स्थिति छायावाद में चाहे जितनी बदल सी गयी हो, युगीन दबाव से मुक्ति का चाहे जितना प्रयास किया गया हो, छायावादी कवि चाहे जितना प्रणय गीत रचते–गाते रहे हो, लेकिन नारी का सबसे सर्जनात्मक–कार्यशील रूप 'पत्नी' का स्वीकार छायावादी कविता में नहीं दिखाई पडता । इसका क्या कारण था? नामवर सिंह के अनुसार छायावादी नारी विद्रोह मानसिक, काल्पनिक अधिक रहा है "यही वजह है कि छायावादी कवि के लिए पत्नी सदैव 'भावी' ही रही, वह वर्तमान न हो सकी।"[86] नामवर सिंह ने अपने विवेचन से एक महत्वपूर्ण कार्य छायावाद के विषय में यह किया कि अपने पूर्ववर्ती आलाचकों की आलोचना को और अधिक महत्वपूर्ण बना दिया। नन्द दुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि आलोचकों ने छायावाद को राष्ट्रीय चेतना से जोड़कर देखा था लेकिन उसका सम्यक निरूपण नही किया था। नामवर सिंह ने इस कार्य को प्रमाणिक और तर्क सम्मत दृष्टि से किया। कुल मिलाकर छायावादी काव्यधारा का महत्व प्रतिपादित करते हुए नामवर सिंह कहते हैं कि "इस तरह छायावाद हमारी विशेषता सामाजिक और साहित्यिक आवश्यकता से पैदा हुआ और उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने ऐतिहासिक कार्य किया। समाज और साहित्य को उसने जिस तरह पुरानी रूढ़ियों से मुक्त किया, उसी तरह आधुनिक राष्ट्रीय और मानवतावादी भावनाओं की ओर भी प्रेरित किया।"[87] साथ ही "छायावाद वस्तुतः एक व्यापक जीवन–दृष्टि थी जिसकी अभिव्यक्ति सामान्य रूप से कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना आदि सभी माध्यमों से हुई परन्तु भावात्मकता के कारण उसकी विशेष अभिव्यक्ति सामान्यरूप से कविता में ही हो सकी और उसी में उसे प्रधानता भी मिली।"[88] 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' में नामवर सिंह ने छायावाद और रहस्यवाद को अलग–अलग खण्डों में बाँटकर विवेचित किया, जबकि 'छायावाद' में नामवर सिंह इसे छायावादी कविता का अंग मान चुके थे। प्रवृत्तियों के विवेचन का कारण नामवर सिंह ने 'इतिहास–सम्मत' माना है। सन् 60 के

आस–पास तक हिन्दी में कई तरह की प्रवृत्तियां उभर रही थी। कुछ मर गयी थीं, कुछ मरने वली थी और कुछ जन्म के करीब थी। पर नामवर सिंह ने इन सभी प्रवृत्तियों को महत्वपूर्ण नहीं माना। क्योंकि "आधुनिक साहित्य में छायावाद ,रहस्यवाद, प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद चार ही प्रवृत्तियाँ निश्चित रूप से इतिहास सम्मत हैं जिन्हें 'वाद' के रूप में प्रचलन की मान्यता प्राप्त है।"[89]

नामवर सिंह ने साहित्य में होने वाले परिवर्तित कारकों को हमेशा उसके 'देश–काल' में खोजा। राजनीतिक परिवर्तन का समाज से और समाज का साहित्य से सम्बन्ध बराबर बना रहता है। जब जब साहित्य का सम्बन्ध समाज से टूटता है या कमजोर होता है तब–तब साहित्य में जीवन्तता, उर्जस्विता का अभाव होने लगता है। 'छायावाद' की परिणति प्रगतिवाद में हुई उसका कारण भी यही था। नामवर सिंह कहते हैं कि "'छायावाद का पर्यवसान प्रगतिवाद में होना था बिल्कुल उसी तरह जैसे व्यक्तिवाद का समाजवाद में होना है। स्वातंत्र्य व्यक्तिवादिता से नहीं प्राप्त हो सकता। छायावाद की दिक्कत यह थी कि छायावाद का सारा स्वातंत्र्य संघर्ष अकेले व्यक्ति का था, और संगठित सामाजिक शक्ति के विरूद्ध अकेले–अकेले लड़ने का यही परिणाम होता है।"[90]

'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील साहित्य' को अलगाकर देखने की चेष्टा हिन्दी में सन् 40 के आस–पास से ही चलन में थी। इसके मूल में प्रेमचन्द्र का वह अध्यक्षीय कथन था कि 'प्रगतिशील' शब्द झूठा है क्योंकि लेखक स्वयं प्रगतिशील होता है। नामवर सिंह ने प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य को अलग-न मानकर एक ही माना। नामवर सिंह के शब्दों में "जिस तरह छायावादी कवियों में एक को अधिक छायावादी तथा दूसरे को कम छायावादी अथवा एक को शुद्ध छायावादी तथा औरों को मिश्रित कहने का जोर–शोर रहा, उसी तरह प्रगतिवाद में भी किसी को शुद्ध प्रगतिवादी अथवा अधिक प्रगतिवादी और दूसरों को कम प्रगतिवादी कहने की हवा है। लेकिन इस वाद विवाद के कारण यदि छायावाद में भेद नहीं किया गया तो प्रगतिवाद में भी भेद करने की जरूरत नहीं है।"[91] प्रगतिवादी साहित्य की दृष्टि कैसी है ? "जिस तरह कल्पना प्रवण अंतर्दृष्टि छायावाद की विशेषता है और अन्तर्मुखी <u>बौद्धिक दृष्टि प्रयोगवाद की उसी तरह सामाजिक यथार्थ दृष्टि प्रगतिवादी की</u>

विशेषता है।"[92] सामाजिक यथार्थ–दृष्टि' का कारण था? "सामान्य लोगों के जीवन में राजनीति का तथा राजनीति में सामान्य लोगो का ऐसा प्रवेश पहली बार हुआ था। इससे पहले राजनीति केवल बड़े लोगों की चीज थी। लेकिन जन तांत्रिक परिस्थिति के आने से अब हवा बदल गयी।"[93]

प्रगतिवाद के बाद हिन्दी कविता की धारा में प्रयोगवाद का चलन हुआ। वस्तुतः इसकी पृष्ठभूमि में तारसप्तक (43ई0) का प्रकाशन है जहाँ 'प्रयोग' को एक प्रवृत्ति के रूप में देखा गया। नामवर सिंह के अनुसार "'प्रयोगवाद' नाम चलने का कारण 'तार–सप्तक' के संपादकीय तथा कुछ अन्य वक्तव्य है। इस संज्ञा के बीज वही हैं। उनमे 'प्रयोग' और प्रयोगशीलता को साफ शब्दों में अपनी विशेषता कहा गया है।"[94] अज्ञेय ने अपने लेखकीय वक्तव्य में लिखा है "जो व्यक्ति का अनुभूति है, उसे समाष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुँचाया जाये–यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।"[95] जब अनुभूति को समष्टि तक पहुँचाना ही समस्या हो जाय तो स्वाभाविक है इसके पूर्व तक कविता की जो पद्धति है उससे कुछ अलग प्रयास हो। इस प्रयास को 'कला' के अन्तर्गत माना जाने लगा। परिणामस्वरूप प्रयोगवाद 'रूपवाद' का पर्यायवाची समझा जाने लगा। नामवर सिंह ने इसका विरोध करते हुए लिखा है कि "'प्रयोगवाद' कोरे रूपवाद से अधिक व्यापक प्रवृत्ति तथा विचार–धारा का वाहक है जिसमें थोड़े–थोड़े से अन्तर के साथ अनेक ह्रास्रोन्मुखी मध्यवर्गीय मनोवृत्तियों और विचार धाराओं का समावेश हो गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रयोगवाद उत्तर–छायावाद की समाज विरोधी अतिशया व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का ही बढावा है।"[96] पर इस काव्यधारा का महत्व इस बात को लेकर है कि "इनमें मध्यवर्गीय हीनता, दीनता, अनास्था, कटुता, अंतमुर्खता पलायन आदि का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है।"[97]

नयी कविता के दौर में नयी कविता के कवियों को उसी तरह का सामना करना पड रहा था जिस तरह छायावाद के कवियों ने किया था। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इसीलिए 'नयी कविता के प्रतिमान' में एक नवीन आलोचना दृष्टि की मांग की और उसका सैद्धान्तिक रूप प्रवर्तित किया, लेकिन विजय देव नारायण साही ने इसका विरोध करते हुए कहा कि "समूची नयी कविता को ठीक–ठीक देखेने के लिए नयी

कविता के प्रतिमान की जरूरत नहीं बल्कि कविता के नये प्रतिमानों की जरूरत है।"[98] नामवर सिंह ने साही के विचारों से सहमति जताते हुए "कविता के नये प्रतिमान" में नये प्रतिमानों की खोज की। नामवर सिंह का मानना है कि "कविता के नये प्रतिमान के केन्द्र में मुक्तिबोध हैं।"[99] साथ ही "इस पुस्तक का आधार यह धारणा है कि नयी कविता में मुक्तिबोध की स्थिति वही है जो छायावाद में निराला की थी। निराला के समान ही मुक्तिबोध ने भी अपने युग के सामान्य काव्यमूल्यों को प्रतिफलित करने के साथ ही उनकी सीमा को चुनौती देकर उस सार्वजनिक विशिष्टता को चरितार्थ किया जिससे समकालीन काव्य का सही मूल्यांकन सम्भव हो सका।"[100]

नामवर सिंह ने मुक्तिबोध की कविता को ही नहीं बल्कि उनकी 'आलोचना' को भी अपना विवेच्य बनाया है। वैसे 'साही' को उनका कट्टर वैचारिक प्रतिद्वन्दी माना जाता रहा है लेकिन नामवर सिंह ने 'साही' के विचारों को और अधिक विस्तार देकर 'नयी कविता' के प्रति या कम से कम मुक्तिबोध के प्रति समझ बढाने का एक सफल और महत्वपूर्ण कार्य किया है।

नामवर सिंह की कविता सम्बन्धी आलोचना दृष्टि में जो सबसे महत्वपूर्ण बात रही है वह यह कि उनका कवि रचनाकार 'व्यक्तित्व' बराबर उनकी आलोचना में स्थान पाता गया है। इस व्यक्ति तत्व से नामवर सिंह कभी मुक्त नहीं हो पाये हैं। वैसे कविता तो शुक्लजी ने भी लिखी है, हजारी प्रसाद द्विवेदी में भी काव्यगत संस्कार थे लेकिन इन आलोचकों ने कभी भी अपने–आलोचकीय व्यक्तित्व में कवि व्यक्तित्व को घुलने का मौका नहीं दिया। राम विलास शर्मा की आलोचना और कविता दोनों महत्वपूर्ण है। लेकिन शर्मा जी ने अपने को काफी श्रम इससे मुक्त किया । नामवर सिंह ऐसा नहीं कर पाये इसी कारण कहीं–कहीं उन पर 'रूपवाद' का प्रभाव दिखाई पड़ जाता है।

नामवर सिंह का सबसे महत्वपूर्ण सर्जनात्मक लेकिन विवादास्पद योगदान रहा है कहानी समीक्षा। नामवर सिंह के पहले हिंदी आलोचना में कविता वादी स्वर ही प्रमुख रहा। लेकिन नामवर सिंह ने 'कहानियों' की समीक्षा प्रारम्भ कर के कथा

समीक्षा को न सिर्फ नवजीवन दिया बल्कि उसे प्रतिष्ठित भी किया। यद्यपि इस कार्य के लिए नामवरसिंह को व्यक्तिगत स्तर पर बहुत ही आलोचना झेलनी पड़ी। नामवर सिह स्वयं स्वीकार करते हैं "यह कहानी चर्चा कुछ काव्य समीक्षकों को पसन्द नहीं आई उन्हें इस बात का ऐतराज था कि हिन्दी में कहानी चर्चा को खामखाह इतना तूल दिया जा रहा है। उनकी नजर में कहानी इस लायक है ही नहीं कि उसे गम्भीर समीक्षा का विषय बनाया जाए। हो सकता है इस प्रकार का पूर्वाग्रह बहुतों के मन में हो। कहानी समीक्षा की दिशा में कदम उठाने से पहले शायद इस प्रकार की दुविधा कुछ–कुछ अपने मन में भी थी।"[101] हिन्दी आलोचना को समृद्ध करने का प्रयास है कहानी समीक्षा। "हिंदी आलोचना जो अभी तक मुख्यतः काव्य समीक्षा रही है, कविता से इतर कथा–नाटक आदि साहित्य रूपों का विधिवत विश्लेषण करके ही अपने को सुसंगत एवं समृद्ध बना सकती है। कहानी समीक्षा संबंधी ये निबंध इसी दिशा में विनम्र प्रयास है।"[102] नामवर सिंह ने अपने विश्लेषण में न केवल कहानी और 'नई कहानी' में अन्तर को स्पष्ट किया है बल्कि प्रेमचन्द्र या उनके समकालीन कहानीकारों के बाद के कहानीकारों के बदलते शिल्प को भी रेखांकित किया। पर सबसे क्रान्तिकारी लेकिन उतना ही विवादास्पद कार्य रहा है 'निर्मल वर्मा' को नई कहानी का प्रथम कहानीकार मानना। वस्तुतः नामवर सिंह ने 'परिन्दें' को लेकर जो विश्लेषण किया है उससे उनके ही 'सहयोगी वाद' के आलोचकों ने आपत्ति उठाई। नामवर सिंह 'परिन्दे' की लतिका के इस प्रश्न को कि "क्या वे सब प्रतीक्षा कर रहे है? लेकिन कहाँ के लिए हम कहॉ जायेंगे।"[103] को समूचे युग बोध का प्रश्न मान लिया कि हम कहॉ जायेगे?। परिन्दे की लतिका का प्रश्न 'कहाँ जाने का न होकर उसकी स्वतन्त्रता का प्रश्न हो जाता है। नामवर सिंह के अनुसार "एक तरह से देखा जाय तो परिन्दे की लतिका की समस्या स्वतन्त्रता या मुक्ति की समस्या है। अतीत से मुक्ति, स्मृति से मुक्ति, उस चीज से मुक्ति जो हमें चलाए चलती है और अपने रेले में हमें घसीट ले जाती है।"[104] नामवर सिंह की कहानी समीक्षा के प्रतिमानों को लेकर हिंदी जगत में एक तूफान सा उठ खड़ा हुआ। बहुत से आलोचकों ने इसे कविता के प्रतिमानों के आधार पर कहानी समीक्षा माना। पर सबसे ज्यादा विवाद निर्मल वर्मा को लेकर उठा। कारण की वर्मा की कहानियों में भारत एक स्मृति के रूप में आता

है, यूरोप उसका देश–काल लगता है। लेकिन नामवर सिंह ने 'कहानी' को संकुचित भूमि मे न देखकर उसमें बदलते मूल्यों को परखने का प्रयास किया। नामवर सिंह की कहानी समीक्षा का प्रभाव यह रहा है 'कहानी' स्वतन्त्रता के बाद की सबसे महत्वपूर्ण विधा हो गई। राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, मार्कण्डेय, फणीश्वरनाथ रेणु, शिव प्रसाद सिंह आदि अनेक कथाकारों का आर्विभाव हुआ। साथ ही कथा आलोचना के क्षेत्र में भी इसका दूरगामी प्रभाव पडा। देवी शंकर अवस्थी, सुरेन्द्र चौधरी, विजय मोहन, रमेशचन्द्र शाह, विश्वनाथ त्रिपाठी के साथ–साथ परमानन्द श्रीवास्तव आदि ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने नामवर सिंह के अन्तर्विरोधी को दूर करने का प्रयास किया है साथ ही 'कहानी समीक्षा' को महत्वपूर्ण बनाने में भी योगदान दिया है।

काव्य, कहानी समीक्षा के अलावा नामवर सिंह ने 'इतिहास और परम्परा' में इतिहास पर अपने आलोचनात्मक मानदण्ड 'मार्क्सवाद' की दृष्टि से विचार–विमर्श किया है। नामवर सिंह की आलोचना प्रक्रिया का सबसे बड़ा तत्व समकालीन युग बोध है। नामवर सिंह ने हमेशा लेखक और आलोचक की 'इतिहास–दृष्टि' को महत्वपूर्ण माना है। यह इतिहास दृष्टि कैसी हो ? "नैरन्तर्य में कालांतर देखना और कालांतर में नैरंतर्य देखना और उसका निर्वाह करना।"[105] 'इतिहास और परम्परा' में संकलित निबन्धों ''इतिहास का नया दृष्टिकोण'' और ''हिंदी साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार'' में नामवर सिंह ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार किया है। इन लेखों का महत्व कितना है इस बात का प्रमाण डॉ0 निर्मला जैन का यह कथन है कि "इन निबन्धों के माध्यम से लेखक ने मूल्यांकन परक आलोचना और साहित्यिक इतिहास के बीच सम्बन्ध स्थापना की है। ये लेख इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं कि इनमें साहित्य के इतिहास लेखन की एक नयी दिशा का स्पष्ट निर्देश किया गया है।"[106] कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'कविता के प्रतिमान' में अगर कविता के आलोचनात्मक प्रतिमानों की खोज है तो 'कहानी:नयी कहानी' में कथा समीक्षा के और 'इतिहास और परम्परा' में इतिहास लेखन के प्रतिमानों की खोज है।

नामवर सिंह की आलोचना–दृष्टि हमेशा 'खोज' करती रहती है इसी खोजी प्रवृत्ति का सुपरिणाम है 'दूसरी परम्परा की खोज'। इस लघु पुस्तिका में मूलतः

हजारी प्रसाद द्विवेदी के कृतियों की न आलोचना है और न ही मूल्यांकन का प्रयास। "अगर कुछ है तो बदल देने वाली उस दृष्टि के उन्मेष की खोज जिसमें एक तेजस्वी परम्परा बिजली की तरह कौंध गयी थी।"[107] और यही तेजस्वी परम्परा' द्वन्द्ववादी परम्परा की जनक थी हजारी प्रसाद द्विवेदी बनाम रामचन्द्र शुक्ल। निर्मला जैन के अनुसार "दूसरी परम्परा की खोज' का महत्व इस बात में है कि उसमें कुछ ऐसी अवधारणाओं के परम्परागत मूल का प्रश्न उठाया गया है जिन्हें बडी सुविधा से पश्चिम की देन स्वीकार कर उनके पारम्परिक मूल विशेष आग्रहों के तहत खोज कर निश्चित कर दिये गये सौन्दर्य की अवधारणा और सौन्दर्यबोध का पारम्परिक विकास ऐसा ही प्रश्न है। भारतीय संस्कृति की विशुद्धता का सवाल भी ऐसा ही बहस तलब सवाल है जिस पर बराबर विचार होता रहा है। इसे हिंन्दी के दो आलोचकों की टकराहट का रूप देना मूल प्रश्न से मुँह चुराना है।"[108]

नामवर सिंह का आलोचकीय जीवन वस्तुतः वाद–विवाद का केन्द्र रहा है। 'वाद–विवाद–संवाद' में नामवर सिंह ने इसे किसी न किसी विशिष्ट सन्दर्भ से सम्बन्धित देखा। 'विश्वविद्यालय में हिन्दी' और 'मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के विकास दिशा' लेख से नामवर की आलोचना का मूल प्रस्थान बिन्दु उभरकर सामने आता है।

नामवर सिंह ने हिंदी आलोचना को जितना लिखकर समृद्ध किया उससे कहीं अधिक आम जनता से सीधा साक्षात्कार कर–बोलकर। यद्यपि वक्ता होने के कारण उनकी आलोचकीय समझ अवश्य समृद्ध होती है लेकिन आलोचना की लिखित परिपाटी को उतना नहीं मिल पाता जितना उसका हक है। दूसरी परम्परा की खोज करने वाले आलोचक की क्या यह तीसरी परम्परा है? और इस परम्परा को इतिहास बद्ध करना है तो कबीर की कविता जो अपने समय के समाज की आलोचना ही करती है – की परम्परा भीं तो यही 'वक्ता' की रही है। नामवर सिंह का कहना है कि "इतिहास विधाता का निर्णय निर्मम हुआ करता है",[109] इसी निर्मम निर्णय का जब इतिहास लिखा जायेगा तो नामवर सिंह को तीसरा परम्परा का वाहक स्वीकार किया जायेगा।

नामवर सिंह की शैली हमेशा संवादात्मक रही है। दृष्टि हमेशा सामाजिक और विवेक मार्क्सवादी दृष्टि से जॉचा परखा। लेकिन कहीं—कहीं विदेशी लेखकों के अतिशय उद्धरण से उनकी आलोचना विदेशी अधिक लगने लगती है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने इस बात को लक्षित करते हुए लिखा है कि "अब कोई नामवर जी से पूछे कि वे अपने भाषणों और लेखों में बार—बार मार्क्स, लुकाच, वाल्टर बेंजामिन, एफ० आर० लीविस आदि की मुहर क्यों लगाते हैं?"[110]

इन कमियों या अन्तर्विरोधों के बावजूद हिंदी आलोचना में नामवर सिंह का महत्वपूर्ण अवदान है। परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार "इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी आलोचना में नामवर सिंह का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने आलोचनात्मक विमर्श का दायरा विस्तृत किया और आलोचना को एक हद तक सामाजिक हस्तक्षेप का सा दर्जा दिया। हिन्दी में एक अकेले वे ही हैं, जिनकी आवाज दूर—दूर तक सुनी जाती है। वे ही हैं जिन पर ज्यादा भरोसा किया जाता है। इसके बावजूद कि सबसे अधिक संदेह या शक के दायरे में वे ही हैं।"[111]

(ख) प्रयोगवादी कवि-आलोचक :

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' मूलतः कृतिकार हैं। आलोचक के बजाय उन्हें चिन्तक अधिक माना जा सकता है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार "जिस सीमित अर्थ में आलोचक' शब्द का इस्तेमाल प्रायः किया जाता है उस अर्थ में अज्ञेय आलोचक नहीं है, बल्कि उनके लिए आलोचक से ज्यादा उपयुक्त शब्द होगा विचारक या चिन्तक।"[112]

विशुद्ध आलोचक न होने के बावजूद अज्ञेय का महत्व हिंदी आलोचना में इस लिए है कि जिस तरह छायावादी कवियों ने अपनी कविताओं की भाव—भूमि को समझाने के लिए अपने विचार रखे, आलोचनाएं लिखीं, उससे कहीं अधिक अज्ञेय ने 'नयी कविता' के लिए नयी आलोचना की भूमि तैयार की। 'नयी कविता' के साथ खासकर प्रगतिवादी विचारधारा के आलोचकों ने न्याय नहीं किया था। अज्ञेय ने इस

बात को लक्षित करते हुए 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में लिखा है कि "नयी कविता का अपने पाठक और स्वयं के प्रति उत्तरदायित्व बढ़ गया है। यह मानकर कि शास्त्रीय आलोचकों से उसे सहानुभूति पूर्ण तो क्या पूर्वाग्रह रहित अध्ययन भी नहीं मिला है, यह आवश्यक हो गया है कि स्वयं आलोचक तटस्थ और निर्मम भाव से उसका परीक्षण करें। दूसरे शब्दों में परिस्थिति की मॉग यह है कि कविगण स्वयं एक दूसरे के आलोचक बनकर सामने आएँ।"[113] अज्ञेय ने अपने उपर्युक्त कथन को स्वयं के लिए एक 'कसौटी' माना। रचना के साथ आलोचना को आवश्यक मानने वाले अज्ञेय ने अपनी कविताओं की व्याख्याके साथ–साथ अपने समकालीन कवियों की रचनाओं को भी अपने आलोचकीय विवेक से जाँचा–परखा।

टी०एस० इलियट का प्रभाव हिंदी में मुख्यतया तीन समीक्षकों पर अधिक पडा है। डा० गिरिजाराय के अनुसार "टी०एस० इलियट के विचारों से शुक्लोत्तर युग के तीन समीक्षक डा० देवराज, अज्ञेय, मुक्तिबोध बहुत गहरे स्तर पर प्रभावित रहे हैं। यह दूसरी बात है कि तीनों ने इलियट के प्रभाव को अलग–अलग ढ़ंग से ग्रहण किया है। देवराज में यह प्रभाव क्लैसिक्स के प्रति आग्रह और सांस्कृतिक चिंता के रूप में, अज्ञेय में निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त के रूप में तथा मुक्तिबोध में गैर रूमानियत के प्रबल पक्षधर के रूप में प्रकट होता है।"[114] इलियट के निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त को अज्ञेय ने 'रचना और अहं' के विलयन के रूप में स्वीकार किया। अज्ञेय के ऊपर इलियट के अतिरिक्त मनोविश्लेषक एडलर का भी प्रभाव रहा है। रामदरश मिश्र के अनुसार एडलर का मानना था कि "व्यक्ति संसार में कमजोर महत्वहीन और असहाय रूप में आता है। प्रकृति के साथ लड़ने में वह असमर्थ होता है और वह भोजन, वस्त्र तथा शरण के लिए अपने बड़ों पर अवलम्बित रहता है। बालक को प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपने बड़ों का मुंह ताकना पड़ता है, दूसरी ओर देखता है कि उसके बडों के पास अधिक शक्ति है वे विश्व के प्रति अधिक ज्ञान रखते हैं और जैसा चाहते हैं, रहते हैं। इन सब कारणों से वह बड़ों की शक्ति से अभिभूत हो उठता है, वह एक हीनता की भावना का अनुभव करने लगता है।"[115] एडलर की 'हीनता की अनुभूति और कला द्वारा उसकी क्षतपूर्ति का प्रभाव अज्ञेय की कला सम्बन्धी परिभाषाओं में स्पष्ट रूप से मिलता है। जैसे"कला सामजिक

अनुपयोगिता की अनुभूति के विरूद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरूद्ध विद्रोह है।"[116]

अज्ञेय की आलोचना—दृष्टि में मनुष्य के विवेक और स्वतन्त्रता का प्रश्न अहम लगता है। 'अंतरा' में अज्ञेय कहते हैं "मै जीना चाहता हूँ, इसका अर्थ मानव के लिए यही है कि मैं स्वाधीन रहना चाहता हूँ।"[117] अज्ञेय के लिए व्यक्ति स्वतन्त्रता इतनी महत्वपूर्ण है कि "कोई दार्शनिक या तार्किक पद्धति समाज या राष्ट्र की स्वतन्त्रता को एक चरम मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित नहीं कर सकती अगर वह व्यक्ति स्वातंत्र्य के अपहरण का अनुमोदन करती हैं।"[118] स्वधीनता के प्रश्न को बार—बार उभारकर अज्ञेय ने एक तरह से विद्रोहात्मक स्थिति पैदा कर दी। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार "उनकी 'स्वधीता' को व्यक्तिवाद और समाज विरोधी के रूप में देखा गया है। क्योंकि "स्वाधीनता की सच्ची कसौटी मैं नही 'ममेतर' है। वैज्ञानिक की स्वाधीनता सत्य के शोध की स्वाधीनता है किन्तु कलाकार की स्वाधीनता में अनिवार्य या मूल्य के बोध की स्वाधीनता भी शामिल होनी चाहिए। जिसका अर्थ फिर यह हो जाता है कि साहित्यकार ऐसे समाज में स्वाधीन नहीं हो सकता, जो समाज स्वाधीन नहीं है।"[119] अज्ञेय की रचनाओं पर बार—बार 'व्यक्विादी' होने का आरोप लगा है। मूलतः अज्ञेय व्यक्ति और समाज दोनों को बराबर स्थान देते हैं लेकिन समाज की अपेक्षा व्यक्ति उनके लिए प्रधान होता है। उन्हीं के शब्दों में "मेरा बल इस पर होगा कि मानव कैसे व्यक्तित्व को बनाए रखते हुए समष्टि के कल्याण का प्रयत्न करें क्योंकि मानव एक स्वतन्त्र व्यक्ति है इसलिए सामाजिक आचरण की जिम्मेदारी उस पर आ जाती है।.........मेरे लिए व्यक्तित्व का विकास सामाजिक जीवन की आधार—भित्ती है। अभिमूल्यों का सस्ताऔर अभिमूल्य ही हो सकते हैं। मानव व्यक्ति ही हो सकता है, होता है, होगा। समाज अभिमूल्यों को स्वीकृति दे सकते है, प्रतिष्ठित कर सकते हैं उनकी स्मृति नहीं कर सकते हैं।"[120]

वस्तुतः अज्ञेय ने 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य' की जो बात बार—बार उठाई है उसका कारण उनके समय का राजनैतिक, सामाजिक वातारण था। विश्वयुद्धों की मार से आम जनता की जो हालत हो गयी थी उसको नजर अन्दाज कर क्रान्ति की बात

करना एक तरह से बेमानी सा हो गया था। दूसरी महत्वपूर्ण बात साहित्य के सन्दर्भ से यह थी कि प्रगतिवाद मे समाज को महत्व अधिक मिला, 'व्यक्ति' का समाज में विलय सा हो गया। पश्चिम के विचारकों से प्रभावित अज्ञेय को यह बात अच्छी नहीं लगी परिणामस्वरूप उन्होने 'व्यक्ति' की स्वतन्त्रता की बात बार–बार उठायी। लेखक और पाठक का सम्बन्ध रचनाकार को बराबर उद्वेलित करता है उसी सन्दर्भ में रचनाकार आलोचक का। अज्ञेय के अनुसार "आलोचना गौण या अपजीवी कर्म भले ही हो, कवि को उसकी आवश्यकता रहती है। आलोचना की अनुपस्थिति में वह मुर्झाता है, उसकी प्रतिभा मलिन होती है।"[121] अज्ञेय स्वयं इस अनुपस्थिति को दूर करने का प्रयत्न करते हैं अपने लिए भी, अपने सहयोगियों के लिए, अपने समसामयिक साहित्य के लिए भी, पूर्ववर्ती साहित्य के लिए भी। इसी क्रम में मैथिली शरण गुप्त का महत्व स्वीकार करते हुए अज्ञेय लिखते हैं "उन्होने जो चलाया वह चला ही, जो निषेध किया वह छूटा ही, पर उन्होने निषेध नहीं किया केवल स्वयं नहीं बरता, उसको बरतना केवल इतने से कठिन हो गया कि उन्होनें उसे नहीं अपनाया।"[122] इसको प्रमाणित करने के लिए अज्ञेय तर्क देते हैं "हिन्दी लघु–गुरू सम्बन्धी रियायतें तो द्विवेदी काल तक प्रचलित थीं जो उर्दू में आज भी सजीव बनी हुई हैं, केवल गुप्तजी के द्वारा प्रयुक्त न होने के कारण अप्रचलित हो गयीं और आज बरती जाती हैं तो 'उर्दू' की मानी जाती हैं।"[123]

'छायावाद' हिन्दी आलोचकों के लिए एक पहेली का प्रश्न कर सामने खड़ा होता रहा है। शुक्ल जी से लेकर आज तक के आलोचकों ने 'छायावाद' को भिन्न–भिन्न तरीकों से विचार का विषय बनाया है। छायावाद की एक सर्वमान्य विशेषता 'व्यक्तिवाद' मानी जाती रही है। "व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता' के हिमायती अज्ञेय छायावाद से कैसे अछूते रहते? छायावाद पर विचार करते समय अज्ञेय ने बड़ी ही दूरदर्शिता का परिचय दिया है। छायावाद को रौमैटिसिज्म का हिन्दी संस्करण मानने से इंकार करते हुए अज्ञेय इसे भारतीय परम्परा की कविता मानते हैं। डॉ० निर्मला जैन के अनुसार "छायावाद को अंग्रेजी के रोमाण्टिक दौर का प्रभाव स्वीकार करने वालों को अज्ञेय ने याद दिलाया कि 'यदि छायावादी आन्दोलन की प्रेरणा हिन्दी कवि द्वारा शैली और कीट्स का आविष्कार था, तो यूरोप के रोमाण्टिक आन्दोलन की

प्रेरणा यूरोपीय कवि द्वारा कालिदास का आविष्कार था।" इस तरह वे हिन्दी पर 'रोमाण्टिक काव्य के प्रभाव मे दूरागत भारतीय प्रतिध्वनि' यूँ भी सिद्ध करते हैं कि उस काव्य से प्रभावित कवि पुनः कालिदास की ओर लौटे। पर यह लौटना महावीर प्रसाद द्विवेदी के लौटने से कुछ अलग किस्म का था। क्योंकि यहा भी 'नये परिचय का प्रश्न नही था, नयी दृष्टि का ही प्रश्न था'। छायावादी कवि की दृष्टि में वृत्तान्त मुख्य न था। उसने कहानी मानों पढी ही नहीं। कालिदास नामक ऐन्द्राजालिक द्वारा सशरीर ऑखों के सामने ला खड़ी की गयी प्रकृति की अनिर्वचनीय मूर्ति को वह अपलक देखता रह गया।"[124]

प्रयोगवाद, नयी कविता में सम्प्रेषणीयता को लेकर बार–बार प्रश्न उठाया गया। अज्ञेय इसे प्रयोगशीलता के लिए बराबर चुनौती मानते हैं। 'तारसप्तक' के अपने व्यक्तव्य में अज्ञेय लिखते हैं "जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुंचाया जाए–यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता के ललकारती है।"[125] इसी समस्या से अज्ञेय एक बार फिर जूझते हैं दूसरे सप्तक में जब वे कहते है कि "कवि नए तथ्यों को उसके साथ नए रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर नए सत्यों का रूप दे, उन नए सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे, यही नई रचना है"[126] समय के विकासमान होने के साथ–साथ रागात्मक सम्बन्धों में भी परिवर्तन होता चलता है जिससे सम्प्रेषण की समस्या और महत्वपूर्ण हो जाती है। इसी सन्दर्भ में अज्ञेय काव्यवस्तु, काव्यसत्य, भाषा और शब्द पर विचार करते हैं। अज्ञेय के लिए सत्य वही है जिसके साथ कवि का रागात्मक सम्बन्ध हो। इस तरह वे 'वस्तुसत्य' और 'व्यक्तिसत्य' में भेद करते हैं। अज्ञेय लिखते है "काव्य का विषय और काव्य की वस्तु (कण्टेण्ट) अलग–अलग चीजें हैं।"[127] 'प्रयोगवाद' के विरोध में 'प्रपद्यवाद' ने "शब्द" के लेकर एक आन्दोलन चलाया और घोषणा की कि 'चीजों का एक मात्र सही नाम होता है।' अज्ञेय ने इस बात को स्वीकार करते हुए भी, ठीक उसी ढंग में नही लिया जो उद्देश्य प्रपद्यवादियों का था। चूँकि शब्द की महत्ता उसके मात्र एक नाम से ही नहीं होती है, अगर होती तो हमारे बीच न जाने कितने शब्दकोशों की पिटारी खुल जाती। शब्द हमेशा नये अर्थ देते रहे हैं, और देगें बावजूद इसके अपने पुराने संस्कार के। नया कवि इसीलिए महत्वपूर्ण हो पाता है कि 'शब्द'

में वह नयी अर्थवत्ता भरता रहता है। अज्ञेय के अनुसार "आज भी मेरे सामने जो समस्या है और जिसकां हल पा लेना मै अपने कवि जीवन की चरम उपलब्धि मानूँगा, वह अर्थवान् शब्द की समस्या है । काव्य सबसे पहले शब्द है। और सब से अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि–धर्म इसी परिभाषा से निःसृत होते हैं, शब्द का ज्ञान–शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़–ही कृतिकार की कृति बनाती है। ध्वनि–लय–छन्द आदि के सभी प्रश्न इसी से निकलते हैं और इसी में विलय होते है। इतना ही नहीं सारे सामाजिक सन्दर्भ भी यहीं से निकलते हैं, इसी में युग–सम्पृक्ति का और कृतिकार के समाजिक उत्तरदायित्व का हल मिलता है या मिल सकता है।"[128] अज्ञेय 'शब्द' को इतना महत्वपूर्ण मानते हैं कि उसे कवि ही नहीं मानते "जो शब्द के संस्कार के प्रति सजग नहीं है।"[129] "प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया संस्कार देता है। इसी के द्वारा पुराना शब्द नया होता है–यही उसका कल्प है। इसी प्रकार शब्द 'वैयक्तिक प्रयोग' भी होता है और प्रेषण का माध्यम भी बना रहता है, दुरुह भी होता है और बोधगम्य भी, पुराना परिचित भी रहता है और स्फूर्तिप्रद अप्रत्याशित भी। नये कवि की उपलब्धि और देन की कसौटी इसी आधार पर होनी चाहिए। जिन्होंने शब्द को नया कुछ नहीं दिया है, वे लीक पीटने वाले से अधिक कुछ नहीं हैं–भले ही जो लीक वे पीट रहें हैं वह अधिक पुरानी हो।"[130] इसी दृष्टि से अज्ञेय 'केशवदास' को पसन्द करते हैं।

हिन्दी साहित्य मे 'आदमी' की परिकल्पना समय के साथ–साथ परिवर्तित होती रही है। भक्तिकाल का आदमी वही नहीं है जो छायावाद का है और छायावाद का वही आदमी सन् 50–60 के आस–पास वही नहीं रह जाता जो छायावाद का रहा। लक्ष्मीकान्त वर्मा तो 'लघुमानव' तक की बात करते हैं और यही 'लघुमानव' वर्माजी के लिए 'आम आदमी' है। लेकिन अज्ञेय किसी 'आम आदमी' की परिकल्पना को वैज्ञानिक नहीं मानते। अज्ञेय कहते हैं कि "आम आदमी क्या होता है? आम जनता शायद होती है क्योंकि जनता एक अमूर्तन है, केवल परिभाषिक अस्तित्व रखती है। पर आम आदमी क्या है? यानी साहित्यकार के लिए कलाकार के लिए क्या होता है। (सांख्यिक परिभाषा में एक 'औसत' इकाई का नाम भले ही हो।) कला की, साहित्य की आंख से जिसे भी देखो वह खास है अद्वितीय है...बल्कि जिससे देखने से ही

'आम' खास हो जाए, वही कला दृष्टि है। जैसे आस्थावान के लिए 'ईश्वर' 'आम' नही होता, वैसे ही कलाकार के लिए आदमी 'आम' नहीं होता।"[131] प्रश्न 'आम आदमी' का न होकर उसके संस्कारों खासकर 'भाषा' का था। अज्ञेय के अनुसार "आम भाषा भी नहीं होती: यानी साहित्य में नहीं होती। साधारण शब्दावली हो सकती है: साधारण इस अर्थ में कि सभी की जानी-मानी हुई हो। पर कवि के इस्तेमाल में आते ही वह विशिष्ट हो जाती है। एक-एक शब्द विशिष्ट हो जाता है, बल्कि सर्जक प्रयोग वही है जिससे ऐसा हो जाय। जैसे कविदृष्टि 'आम' आदमी को खास बनाती है, वैसे ही कवि-प्रयोग 'आम' शब्द को खास बनाता है।"[132]

नयी कविता के ऊपर अश्लीलता, कुंठा, क्षणवाद, परम्पराभंजक, विदेशीचिन्तन से प्रभावित आदि होने का आरोप लगा। इसकी परिधि में अज्ञेय भी थे। मूलतः ये सारे प्रश्न मध्यवर्गीय मानसिकता को लेकर थे। मध्यवर्गीय मानसिकता को स्वीकार करते हुए अज्ञेय ने माना कि आज का कवि मध्यवर्ग से आता है, मुख्यतः मध्यवर्ग का ही जीवन चित्रित करता हैं। इसी वर्ग में वर्जनाएं सबसे अधिक है इसीलिए इसी वर्ग में कुंठाएं सबसे स्पष्ट लक्षित होती है। अभिजात वर्ग और लोक वर्ग के बीच का वर्ग मध्यवर्ग हैं। चूँकि साहित्यकार का परिवेश उसकी दृष्टि को विकसित करता है तो स्वाभाविक है कि ये सारे तत्व उसकी कविता में आये। क्षणवाद के विषय में अज्ञेय 'क्षण' के आग्रह को क्षणिकता का आग्रह नहीं मानते। "मैने क्षण पर जो बल दिया है वह अनुभूति के प्रति सच्चाई के सन्दर्भ में ही यानी रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में। भोक्ता के द्रष्टा होने का परिवर्तन-क्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण क्षण है, वही स्रष्टा होने की पहली शर्त है । ऐसा ही क्षण साहित्य का असल वर्तमान है।"[133] 'अश्लीलता' का दंश अज्ञेय झेलते हुए भी अपनी इस बात पर कि 'श्लील और अश्लील देशकाल पर आश्रित हैं' पर डटे हुए रहे। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार "अज्ञेय का मानना है कि नैतिक-अनैतिक की परख कुछ अभिमूल्यों के आधार पर होती है जो विकासमान होते हैं, स्थिर और जड़ नही होते। नैतिक मूल्य भी मानव-विवेक से ही उत्पन्न होते हैं।"[134]

अज्ञेय ने अपने आलोचकीय विवेक से 'नयी कविता' के ऊपर लगे तमाम आरोंपों को निरसित कर न सिर्फ नयी कविता की महत्ता को प्रतिष्ठित किया बल्कि

तटस्थ भाव से मूल्यांकन की एक नयी पद्धति का आविष्कार किया। मुक्तिबोध की भी यही मांग अपने समकालीन आलोचकों से थी। 'नयी कविता' के अपने प्रतिमानों से अज्ञेय ने परम्पराबद्ध साहित्य का भी नया मूल्यांकन किया। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार "उन्होनें अपने से पहले, समकालीन और परवर्ती सभी आयुक्रम के लेखकों का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन किया और यों परम्परा की सही पहचान बनाने में गुणात्मक योग दिया है।"[135] अज्ञेय की आलोचना–दृष्टि और उनके प्रतिमानों के महत्व को रेखांकित करते हुए डॉ० निर्मला जैन लिखती हैं कि अज्ञेय ने "अपने आलोचनात्मक टिप्पणियों के द्वारा नयी कविता को प्रतिष्ठित करने के साथ ही उसके मूल्याकन के प्रतिमान का निरूपण तो किया ही, इस नये प्रतिमानों से पुराने कवियों का पुनर्मूल्यांकन भी किया।"[136]

(ग) नयी कविता, नई समीक्षा के आलोचक :

रघुवंश, लक्ष्मीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी

'नयी कविता' को केन्द्र में रखकर रघुवंश, लक्षमीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि ने विचार–विमर्श को आगे बढ़ाया। नयी कविता, नई कहानी की तर्ज पर 'नयी आलोचना' की प्रतिध्वनि भी इसी काल में सुनाई पड़ी। 'नयी आलोचना' से सबसे अधिक प्रभावित रामस्वरूप चतुर्वेदी हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा, धर्मवीरभारती, जगदीशगुप्त मूलतः कवि हैं। और उन्होंनें जो विचार व्यक्त किया है वह 'नयी कविता' की पृष्ठभूमि को ही ध्यान में रखकर। अतः इन्हें 'आलोचक' के बजाय 'नयी कविता' के पथप्रदर्शक के रूप में अधिक जाना जाता है। मूलतः इनकी आलोचना,(?) प्रभाविव्यजंकता के रूप में अधिक है। धर्मवीरभारती ने 'मानव मूल्य' को लेकर अपने विचार व्यक्त किये हैं तो लक्ष्मीकांत वर्मा ने 'नयी कविता के प्रतिमान' और 'नये प्रतिमान :पुराने निकष' में 'नयी कविता' के प्रतिमानों को ही अपनी आलोचना का विषय बनाया है। जगदीशगुप्त 'नयी कविता' के संस्थापक–सम्पादक रहे हैं उन्होंने जो विचार व्यक्त किया है वह नई कविता की

'भावभूमि' को लेकर ही है। रघुवंश जी और रामस्वरूप चतुर्वेदी ही इस काल के ऐसे आलोचक हैं जिन्हें हम व्यावहारिक आलोचक की श्रेणी में पाते हैं।

रघुवंश जी पर लोहिया का प्रभाव रहा है। लोहिया गाँधी से अधिक जुडते है नेहरू से कम। रघुवंश जी भी स्वीकार करते है कि "मूलतः मेरे चिन्तन का आधार गाँधी–विचार रहा है, अतः मेरी सत्य न्याय और अहिंसा पर पूरी आस्था रही है।"[137] रघुवंश जी वैज्ञानिक और सामाजिक पूँजीवाद को साम्राज्यवादी दृष्टि से देखते हैं। वस्तुतः 'व्यक्ति–स्वतन्त्रता' ही इनकी आलोचना की मूल दृष्टि है। नन्द किशोर नवल के अनुसार "यह भी एक प्रकार का समन्वयवाद ही है जिसमें आधुनिक वैज्ञानिक विचार–धारा और मध्ययुगीन धार्मिक–नैतिक विचार–धारा जैसी बेमेल चीजों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इस समन्वयवाद का आधार भी मध्यवर्ग ही है।"[138] रघुवंश जी ने गाँधीवादी प्रभाव से ही पूँजीवादी, मार्क्सवाद दोनों का विरोध किया। गाँधीवादी दर्शन से ही रघुवंश जी आज के समाज को आधुनिक बनाने पर जोर देते हैं। रघुवंश जी के अनुसार "हमारे लिए आधुनिक होने का मतलब है कि हम गतिशील, मौलिक और सर्जन–शील हों।"[139] इसका अर्थ यह हुआ कि आधुनिकता अपने या पराये मूल्यों मे बाँधना नहीं, बल्कि निरन्तर गतिशील बने रहने में है। यही सर्जनशीलता है और इसकी आधुनिक दृष्टि मूलतः दो प्रकार की है "बौद्धिकता और निजी व्यक्तित्व की खोज"। इन्हीं दो दृष्टियों से रघुवंश जी ने अपने साहित्य सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं। "रचनाकार समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था के विरूद्ध खड़े होकर, उनके समस्त मूल्यों को नकारकर, प्रतिष्ठित आदर्शों को चुनौती देकर भी अपनी रचना–प्रक्रिया में किन्हीं न किन्हीं मूल्यों की भूमिका प्रस्तुत करता ही है"[140] पर "किसी युग का कवि मूल्यों की स्थापना नहीं करता...... यह अलग बात है कि उसकी व्यंजना के आधार पर आगत मूल्यों का संचरण हो सके।"[141]

छायावाद के बाद हिंदी कविता का विकास दो रूपों में हुआ–प्रगतिवाद और प्रयोगवाद से नई कविता। रघुवंशजी के अनुसार प्रगतिवादी कविता अयथार्थवादी रही है। "प्रगतिवादी कविता 'कुत्सित समाजशास्त्रीय' आलोचकों के प्रभाव से वर्ग–संघर्ष तथा सामाजिक क्रान्ति का अयथार्थ स्वर भरती रही है। अधिकतर प्रगतिवादी कवि अपने देश के सामाजिक यथार्थ से अपरिचित रह कर रूस तथा चीन की सामाजिक

क्रान्ति के गीत गाते रहे हैं।"[142] तो प्रयोगवाद और नई कविता का स्वर यथार्थवादी रहा है "प्रयोगशील और बाद में नया कहलाने वाले साहित्य के बारे में कहा जाता है कि उसमें पिछले छायावादी प्रगतिवादी आदि की तुलना में यथार्थ को सही ढंग से ग्रहण करने की खोज या प्रयत्न है। एक प्रकार से यथार्थ को बचा जाने की उनकी प्रवृत्ति के प्रति इस साहित्यिक दृष्टि का विरोध और विद्रोह रहा है।...... हमने अपने युग जीवन के सम्पूर्ण यथार्थ को ग्रहण किया, अर्थात् अमुक विषय और पक्ष रचना के क्षेत्र में आते हैं, यह सीमा त्याग दी गयी है। यथार्थ का अर्थ हुआ सब कुछ जो भी रचनाकार के व्यक्तित्व से टकराता है और रचनात्मक अनुभव बनता है।"[143] रघुवंशजी बौद्धिकता को नयी कविता का एक मूल उत्स मानते हैं। क्योंकि इसके बिना न तो कविता में तटस्थता सम्भव हो सकती है और नहीं रोमानी भावुकता से मुक्ति। इस दृष्टि से रघुवीर सहाय महत्वपूर्ण कवि हैं क्योंकि "यथार्थ और अनुभूति के प्रति अकृत्रिम जिज्ञासा से आकर्षित हैं, पर उसमें रोमांटिक भावुक आकर्षण के स्थान पर तटस्थ अनुभव की मनःस्थिति मात्र व्यंजित होती है।"[144] इसी यथार्थ, बौद्धिकता की कसौटी पर विपिन कुमार अग्रवाल रघुवंशजी को प्रिय लगते हैं। रोमानी अभिव्यक्ति वाले कवि जैसे, गिरिजा कुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, साही, जगदीशगुप्त उन्हें नापसन्द हैं। धर्मवीर भारती नयी कविता के सर्वाधिक रोमांटिक मनोभाव वाले कवि रहें हैं। रघुवंश जी ने भारती की अतिशय रोमांटिकता को एक खतरनाक प्रवृत्ति मानते हुए कहते हैं कि "भारती अपनी मौलिक प्रकृति के कारण यथार्थ को उस तटस्थ और असंपृक्त संवेदन के स्तर पर, व्यंजित करने में असमर्थ हैं, जो आधुनिकता का विकसित होता हुआ भावबोध है।"[145] 'रोमानी अभिव्यक्ति' को कविता में नकारते हुए रघुवंश जी कविता में 'बौद्धिक–यथार्थ' का पक्ष लेते हैं, इसी दृष्टि से सातवें दशक की कविता में धूमिल उनके लिए महत्वपूर्ण कवि हैं क्यों कि "समस्त साठोत्तर कवियों में कुछ ऐसे कवि जरूर हैं, जिनमें युग की सारी विसंगतियों का गहरा अहसास है, पर उनमें भावावेश, आक्रोश तथा उत्तेजनाएँ नहीं हैं। वे गहरी संसक्ति के साथ अपने युग जीवन का अनुभव करते हैं और उनमें एक दायित्व भी निहित है।[146] रघुवंश जी की आलोचना के बारे में नन्दकिशोर नवल का मानना है कि "उनके साहित्य–सम्बन्धी चिन्तन में उलझाव है और उनकी आलोचना

की शक्ति सीमित है। उनकी पद्धति शास्त्रीय नहीं है, पर उस पर पाश्चात्य आलोचना का स्पष्ट प्रभाव है।"[147] रघुवंश जी की महत्व हिंदी आलोचना में इस दृष्टि से है कि उन्होंने अपने विवेचन से नयी कविता के साथ–साथ आधुनिक साहित्य के सैद्धान्ति पक्ष को स्पष्ट किया है।

'नयी कविता' के सैद्धान्तिक पक्ष को प्रस्तुत करने का जो प्रयास रघुवंशजी का है उससे महत्वपूर्ण मान्यता देने का सराहनीय प्रयास लक्ष्मीकान्त वर्मा का है। नयी कविता के सन्दर्भ से लक्ष्मीकान्त वर्मा ने हिन्दी साहित्य में 'लघुमानव' की वकालत की है, जिसके पीछे साही जी की बौद्धिक प्रेरणा रही है।[148] प्रयोगवाद से अलग 'नई कविता' की स्थापना के पीछे वर्मा जी का मूल उद्‌देश्य था अज्ञेय, समर्थित धारा का विरोध। 'नयी कविता' की आलोचना कैसी हो? लक्ष्मीकान्त वर्मा का मूल उद्‌देश्य रहा है 'नयी कविता के प्रतिमान में'। उनका मानना है कि "प्रगतिवादी आलोचकों में उनका 'वाद' इतना छा जाता है कि वे प्रत्येक बात में केवल सन्देह ही पाते हैं। छायावादी युग के आलोचक परम्पराओं से चिपक कर नयी कविता पर दृष्टि डालते है किन्तु इन दोनों के अति से बचकर यदि स्वतन्त्र रूप से निरपेक्ष Objective दृष्टिकोण से देखा जाय तो निश्चय ही नयी कविता में वे तत्व मिलेगें जिनमें साहित्य और कला पक्ष दोनों ही का निर्वाह किया गया है।"[149] लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार नयी कविता के मुख्य तत्व है :–

1. उसकी नयी परिप्रेक्षणीयता
2. अनुभूतियों के नये रूपान्तरण और उनके नये अनुभव क्षेत्र
3. सौन्दर्य बोध के नये धरातल
4. परम्परागत विकृत मूल्यों के परिष्करण
5. मतवादी भ्रान्तियों से मुक्ति पाने की कामना
6. तदात्म सत्य की वे परिधियाँ जिनमें हमारा रागात्मक रस बोध नये आयामों का अन्वेषण करने की सामर्थ्य पाता है।[150]

लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अपने विवेचन से 'नयी कविता' के सैद्धान्तिक पक्षों को प्रस्तुत किया। यह अलग बात है कि विजयदेव नारायण साही ने इनके इस कार्य का विरोध करते हुए 'कविता के नये प्रतिमान' की वकालत की क्योंकि "नयी कविता का

इतिहास अभी अत्यल्प है, इसलिए इतने कम समय में नयी कविता के प्रतिमानों पर चर्चा करना अभी उचित नहीं है अच्छा होता कि नयी कविता के प्रतिमानों की अपेक्षा कविता के नये प्रतिमानों की खोज की जाती।"[151]

'नये प्रतिमान : पुराने निकष' में वर्माजी ने नयी कविता के छद्म छायावादिता को घोर आपत्तिजनक माना है। वर्मा जी की मुख्य शिकायत है "जिस लिरिकलमूड को पिछले पन्द्रह वर्षों से नया कवि तोड़ना चाहता था, आज वह पूरी तरह उस पर सवार है।"[152] मूलतः 'नई कविता' के कवि होने के कारण वर्माजी ने 'नई कविता' के विवेचन में अपने 'कवि-विवेक' का ही इस्तेमाल अधिक किया है जिससे उनकी आलोचना में प्रभाविव्यंजकता का तत्व अधिक उभर आता है। इसी कारण निर्मलाजैन ने उन्हे नयी कविता का शांति प्रिय द्विवेदी माना है।[153]

जगदीश गुप्त का महत्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने 'नयी कविता' पत्रिका के संस्थापक-संपादक की हैसियत से 'नयी कविता' के सैद्धान्तिक पक्षों की विवेचना की है। तटस्थ दृष्टिकोण से अपने सहयोगी रचनाकारों के 'नयी कविता' सम्बन्धी विवेचन से मतभेद रखते हुए वे अपने विचार व्यक्त करते थे। लक्ष्मीकान्त वर्मा के 'लघुमानव' की धारणा का विरोध करते हुए गुप्त जी लिखते हैं "वास्तव में लघुता दूसरों की महानता से उत्पन्न एक अभिशाप है। मानवता अथवा वीर पूजा का विरोध करना और लघुता को एक प्रतिमान बनाकर मानव व्यक्तिव पर उसे आरोपित करने का यत्न करना निरर्थक और परस्पर विरोध है।"[154] लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए 'लिटिल मैंन' और 'स्माल मैंन' में अन्तर माना। जबाब में गुप्त जी कहते हैं कि 'श्री वर्मा ने प्रतिवाद में उत्तर यह तर्क देकर की 'लिटिलमैन' का तात्पर्य 'स्माल मैन' नहीं है, अथवा लघु और छोटा समानार्थी शब्द नहीं है, व्यर्थ का वाग्जाल खड़ा करना है, जिस पर कोई समझदार आदमी श्रद्धा नहीं करेगा।"[155] क्योंकि आधुनिक साहित्य का लक्ष्य सहज एवं प्रकृत-मानव-व्यक्तित्व को परखना है उसकी लघुता का गुणगान करना नहीं।

धर्मवीर भारती 'नई कविता' के रोमानीधारा के कवि के रूप में जाने जाते हैं। स्वातंत्रोत्तर भारत में विश्वयुद्ध की मार से तड़पती जनता में 'मानव-मूल्यों' की

प्रतिष्ठा का प्रश्न एक महत्वपूर्ण प्रश्न था। धर्मवीर भारती ने महसूस किया कि आज का मानव कितना निष्प्राण, दिग्भ्रमित हो गया है। उसके वे मूल्य गायब हो गये हैं जिनसे किसी की मनुष्यता का मापन होता आया है। 'मानवमूल्य और साहित्य' में धर्मवीर भारती ने इन्हीं प्रश्नों से जुझने की कोशिश की है। पर इन सब से महत्वपूर्ण एक बात और थी जिससे भारती की भावभूमि का पता चलता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार "नयी कविता नवलेख के दौर में कम्युनिस्ट आंदोलन की सर्वसत्ता वादी पद्धति का आक्रान्तकारी रूप देश के बौद्धिक जीवन में प्रवेश कर रहा था। फलतः छठे दशक में मानव मूल्य और व्यक्तित्व की बुनियादी स्वाधीनता को लेकर इस क्षेत्र में व्यापक बहस चलती है।"[156] लोहियावादी समाजवादी दृष्टिकोण से भारती ने न सिर्फ मार्क्सवाद का विरोध किया बल्कि फ्रायड की अपूर्णता पर भी विचार किया। 'अन्तरात्मा के ध्वंसावशेष' में भारती ने 'अन्तरात्मा' की आधुनिक परिभाषा दी है। उनके अनुसार "विवेक अन्तरात्मा के सहायक तत्वों में संभवतः सबसे प्रमुख और विश्वसनीय है। मानवीय गौरव के अर्थ यह हैं कि मनुष्य को स्वतंन्त्र, सचेत, दायित्व मुक्त माना जाए, जो अपने इतिहास का निर्माता हो सकता है"[157] भारती के दौर में राजनीति और साहित्य को लेकर बराबर घर्षण की स्थिति बनी रही। यद्यपि आज भी यही स्थिति है इस दृष्टि से भारती का यह कथन महत्वपूर्ण हो जाता है कि "हर हालत में राजसत्ता के समक्ष अपनी स्वतन्त्रता की स्थिति बनाए रखनी चाहिए, चाहे इसके लिए उसे जो भी मूल्य चुकाने पड़े।"[158] मूलतः 'नयी कविता' के कवि होने के कारण धर्मवीर भारती भी प्रमाभिव्यजंकता से अझूतें नहीं रहें हैं। लेकिन भारती ने 'मानव–मूल्यों' का प्रश्न उठाकर एक नयी बहस की शुरूआत की जिससे आज का आलोचक संवाद कर सकता है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी इस दौर के एक मात्र आलोचक रहे हैं जो सैद्धान्तिक समीक्षा के साथ–साथ व्यावहारिक समीक्षा भी अद्यतन जारी रखे हुए हैं। रामविलास शर्मा के बाद चतुर्वेदी जी ही एक मात्र ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य को उसकी पूरी जातीय संस्कृति में देखने का प्रयास किया है।

चतुर्वेदी जी मुख्यतः 'काव्यभाषा' को केन्द्र में रखकर समीक्षा कर्म में प्रयुक्त हुए हैं। उनके अध्ययन का विषय बराबर भाषा के उपकरण शब्द, विम्ब, प्रतीक आदि

रहे हैं। साथ ही भाषा और अनुभूति के द्वैत से उपजी संवेदना पर भी उन्होंने विचार किया। रामचन्द्र तिवारी का मानना है कि चतुर्वेदी जी के लिए "चित्तवृत्तियों का संश्लेषण ही संवेदन है।"[159] और इसी संवेदना का बदलाव साहित्यिक गुणों के बदलाव का साक्षी होता है। चतुर्वेदी जी साहित्य के विकास के साथ संवेदना के विकास का महत्व इतिहाकार के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं। चतुर्वेदी जी का मानना है कि भाषा के बगैर मनुष्य पशु हो जाता है। "मनुष्य भाषा में जीता है, जीने का अनुभव करता है तब तक और जिस सीमा तक भाषा नहीं बनी थी तब तक और उस सीमा तक मनुष्य पशु था।"[160]

चतुर्वेदी जी की आलोचना की केन्द्रिय धुरी अज्ञेय और उनका साहित्य रहा है। चतुर्वेदी जी का मानना है कि "आधुनिक साहित्य में मानवीय व्यक्तित्व और उसकी सर्जनात्मकता की सबसे गहरी और सार्थक चिन्तना स०ही० वात्स्यायन अज्ञेय के कृतित्व में मिलती है।"[161]

चतुर्वेदी जी ने अज्ञेय के साथ–साथ प्रसाद निराला के काव्य का परीक्षण किया है। इसी क्रम में उन्होंने मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय के साथ–साथ तारसप्तक के बाद के लगभग सभी कवियों की भाषिक समीक्षा की है। "हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' में चतुर्वेदी जी ने न सिर्फ आदिकाल से लेकर अद्यतन काव्य–परम्परा की समीक्षा की है बल्कि कुछ मौलिक स्थापनाएँ भी की है। 'छायावाद' को 'शक्तिकाव्य'[162] के रूप में देखने का पहला मौलिक कार्य चतुर्वेदी जी ने ही किया है।

'कामायनी का पूनर्मूल्यांकन' में चतुर्वेदी जी पुनर्मूल्यांकन को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि "पूनर्मूल्यांकन की बात साहित्य में तब आती है जब किसी रचना, कवि, अथवा युग–विशेष को देखने–परखने की दृष्टि में गुणात्मक अन्तर आ जाय। हर–समय की दृष्टि से – अगला मूल्यांकन पुनर्मूल्यांकन नहीं होगा क्योंकि सम्भव है कि वह पिछले मूल्यांकन का ही विस्तार अथवा पूरक हो।"[163]

हिन्दी में गद्य की कोई निजी सत्ता न मानने वाले चतुर्वेदी जी का मानना है कि रचना के क्षेत्र में सूचनात्मक गद्य छाया हुआ है। 'हिन्दी गद्यः विन्यास और

विकास' में गद्य की 'निष्पत्ति को रेखांकित करते हुए वे कहते हैं "इस आधुनिक काल की चरम परिणतियों में एक है कविता के क्षेत्र में गद्य का संक्रमण 'गद्य कविता।[164]

चतुर्वेदी जी ने लक्ष्मीकान्त वर्मा, विजयदेव नारायण साही, नामवर सिंह द्वारा प्रतिमान के विषय को बार–बार उठाये जाने पर आपत्ति की है। और 'प्रतिमानों' की प्रासगिकता को नकार सा दिया है। उनका मानना है कि "नयी कविता के प्रतिमान या कविता के नये प्रतिमान की बहस एक सीमा तक ही आलोचकों का साथ देती है। अंततः तो उसे रचना के लिए प्रतिमान उस रचना और अपने आलोचना विवेक की टकराहट में से ही आविष्कृत करने होंगे। और तब प्रतिमान की परिकल्पना स्वयं प्रासंगिक नहीं रह जाती।"[165] चतुर्वेदी जी ने आधुनिक साहित्य को परखने की कसौटी भाषा और अनुभूति के अद्वैत और उसकी संवेदना निर्धारित की और आज भी वे इस कार्य को पूरे मनोयोग से कर रहे हैं।

इन आलोचकों के अतिरिक्त सप्तकों के कवियों ने स्फुट आलोचना का कार्य किया है। खासकर शमशेर, रघुवीर सहाय ने, शमशेर ने 'कुछ गद्य रचनायें' में अपनी बारे में तथा आधुनिक कविता के बारे में विचार व्यक्त किया है। मुक्तिबोध को लेकर शमशेर ने बहुत ही भावपूर्ण विवेचन किया है। रघुवीर सहाय ने भी अपने सम–सामयिक रचना काल पर टिप्पणी की है।

साही के दौर के मुख्यतः यही आलोचक रहे हैं जिनसे हिन्दी आलोचना की नई प्रतिष्ठा नये स्तर पर होती है।

फुटनोट

1 आधुनिक भारत का इतिहास – सं० रामलखन शुक्ल पृ0 508
2 आधुनिक भारत का इतिहास – सं० रामलखन शुक्ल पृ0 510
3 राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक महासंघ का स्वर्णजयंती समारोह–9,10,11 अप्रैल 1986
4 हिंदी साहित्य कोश भाग–1 सं0 धीरेन्द्र वर्मा पृ० 395
5 तारसप्तक (सातवां पेपर बैक) संस्करण – सं० अज्ञेय पृ० 222
6 तारसप्तक (सातवां पेपक बैक) सं० अज्ञेय पृ० 222
7 हिंदी साहित्य कोश, भाग – 1 सं० धीरेन्द्र वर्मा पृ० 410
8 हिंदी साहित्य कोश – भाग 2 सं० धीरेन्द्र वर्मा पृ० 331
9 हिंदी साहित्य कोश – भाग–2 सं० धीरेन्द्र वर्मा पृ० 332
10 हिंदी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन पृ० 68
11. साहित्य की परख – शिवदान सिंह चौहान पृ० 02
12 साहित्य की परख – शिवदान सिंह चौहान पृ० 24
13 साहित्य की परख – शिवदान सिंह चौहान पृ० 24
14 साहित्य की परख – शिवदान सिंह चौहान पृ० 19–20
15 साहित्य की परख – शिवदान सिंह चौहान पृ० 19–20
16 हिंदी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ – रामदरश मिश्र पृ० 267
17. हिंदी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ – रामदरश मिश्र पृ० 267
18 साहित्य की परख – शिवदान सिंह चौहान पृ० 24
19 हिंदी आलोचना – विश्वनाथ त्रिपाठी पृ० 179–180
20 हिंदी साहित्य की जनवादी परम्परा – प्रकाशचन्द्र गुप्त पृ० 138
21 हिंदी साहित्य की जनवादी परम्परा – प्रकाशचन्द्र गुप्त पृ० 140
22 आधुनिक हिंदी साहित्य : एक दृष्टि – प्रकाशचन्द्र गुप्त पृ० 69
23 हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी – निर्मला जैन पृ० 68
24 हंस – प्रगतिअंक – 1 पृ० 410–11
25 प्रेमचन्द्र – रामविलास शर्मा पृ० 13
26 प्रेमचन्द्र – रामविलास शर्मा पृ० 183
27. मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य – राम विलास शर्मा पृ० 326–27
28 आजकल:साक्षात्कार :रामविलास शर्मा से प्रकाश मनु की बातचीत पृ० 07 अप्रैल 2000
29 निराला की साहित्य साधना–भाग–1 रामविलास शर्मा पृ० 540
30. निराला की साहित्य साधना–भाग–1 रामविलास शर्मा पृ० 540
31. निराला की साहित्य साधना–भाग–1 रामविलास शर्मा पृ० 546
32 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना – रामविलास शर्मा पृ० 07
33 नयी कविता और अस्तित्ववाद – रामविलास शर्मा पृ० 28
34 नयी कविता और अस्तित्ववाद – रामविलाश शर्मा पृ० 34
35. छठवांदशक – विजय देव नारायण साही पृ० 321
36. नयी कविता और अस्तित्ववाद – रामविलाश शर्मा पृ० 321
37. आधुनिक हिंदी आलोचना: सन्दर्भ और दृष्टि – रामचन्द्र तिवारी पृ० 116

38 नयी कविता और अस्तित्वाद : रामविलाश शर्मा पृ० 90
39 नयी कविता और अस्तित्ववाद : रामविलाश शर्मा पृ० 154–55
40 नयी कविता और अस्तित्ववाद : राम विलाश शर्मा पृ० 166
41 निराला की साहित्य साधना – द्वितीय खण्ड – रामविलाश शर्मा पृ० 469
42 निराला की साहित्य साधना – द्वितीय खण्ड – रामविलाश शर्मा पृ० 477
43 परम्परा का मूल्यांकन – रामविलाश शर्मा पृ० 172
44 परम्परा का मूल्यांकन – रामविलाश शर्मा पृ० 153
45 हिंदी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन पृ० 74
46 हिंदी आलोचना – विश्वनाथ त्रिपाठी पृ० 198
47 हिंदी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ – रामदरश मिश्र पृ० 284
48 हिंदी आलोचना का विकास – नन्दकिशोर नवल पृ० 276
49 कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 151
50 कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 151
51 कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 151
52 कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 20
53 कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 20
54 कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 21
55 कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 21
56 कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 21
57 कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 36
58 कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 163
59. कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 158
60 कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 158
61 कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 183
62. कामायनी : जयशंकर प्रसाद (आमुख) पृ० (viii)
63 पंत प्रसाद और मैथिलीशरण – रामधारी सिंह दिनकर पृ० 91
64 कामायनी का पुर्नमूल्यांकन – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 16
65 कामायनी का पुर्नमूल्यांकन – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 16
66 नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र – मुक्तिबोध पृ० 140
67 नयी कविता का आत्मसंघर्ष एवं अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध पृ० 148–49
68. नयी कविता का आत्मसंघर्ष एवं अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध पृ० 140
69 नयी कविता का आत्मसंघर्ष एवं अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध पृ० 140
70 नयी कविता का आत्मसंघर्ष एवं अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध पृ० 92
71. एक साहित्यिक की डायरी – मुक्तिबोध – पृ० 20–21
72 एक साहित्यिक की डायरी – मुक्तिबोध – पृ० 23
73. वर्तमान साहित्य (पत्रिका) – हिंदी आलोचना के सौ बरस (सं० अरविन्द त्रिपाठी) भाग–1 पृ० 174
74. हिंदी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन पृ० 78–79
75. हिंदी आलोचना – विश्वनाथ त्रिपाठी पृ० 198
76. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग – नामवर सिंह पृ० 248
77. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग – नामवर सिंह पृ० 248

78 छायावाद – नामवर सिंह पृ० 16
79 छायावाद – नामवर सिंह पृ० 16
80 छायावाद – नामवर सिंह पृ० 16
81 छायावाद – नामवर सिंह पृ० 22
82. छायावाद – नामवर सिंह पृ० 22
83 छायावाद – नामवर सिंह पृ० 23
84 छायावाद – नामवर सिंह पृ० 69
85. छायावाद – नामवर सिंह पृ० 69
86 छायावाद – नामवर सिंह पृ० 151
87 छायावाद – नामवर सिंह पृ० 152
88 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ – नामवर सिंह पृ० 12
89 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ – नामवर सिंह पृ० 12
90 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ – नामवर सिंह पृ० 71
91 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ – नामवर सिंह पृ० 86
92 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ – नामवर सिंह पृ० 77
93. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ – नामवर सिंह पृ० 110
94. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ – नामवर सिंह पृ० 222
95 तारसप्तक – सं० अज्ञेय पृ० 222
96. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ – नामवर सिंह पृ० 143–44
97 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ – नामवर सिंह पृ० 143–44
98. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 218
99 कविता के नये प्रतिमान – नामवर सिंह पृ० 8
100 कविता के नये प्रतिमान – नामवर सिंह पृ० 8
101 कहानी : नई कहानी – नामवर सिंह पृ० 9
102 कहानी : नई कहानी – नामवर सिंह पृ० 10
103 कहानी : नई कहानी – नामवर सिंह पृ० 52
104 कहानी : नई कहानी – नामवर सिंह पृ० 53
105 इतिहास और परम्परा – नामवर सिंह
106. हिंदी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन पृ० 81
107. दूसरी परम्परा परम्परा की खोज – नामवर सिंह पृ० 8
108 हिंदी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन पृ० 82
109. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग – नामवर सिंह पृ० 248
110 दस्तावेज (पत्रिका) – सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी पृ० 4 अंक 91
111 बसुधा – सं0 कमला प्रसाद पृ० 386 अंक 54
112 वर्तमान साहित्य (शता० आलोचना विशेषांक) सं०अरविन्द त्रिपाठी भाग–1 पृ० 93
113 तीसरा सप्तक – सं० अज्ञेय पृ० 6
114 साहित्य का नया शास्त्र – गिरिजाराय पृ० 109–110
115. हिन्दी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ – रामदरश मिश्र पृ० 290
116 हिन्दी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ – रामदरश मिश्र पृ० 303
117. अन्तरा – अज्ञेय पृ० 24

118 अन्तरा – अज्ञेय पृ० 35
119 वर्तमान साहि० – शताब्दी आलोचना विशेषांक भाग–1 सं० आरविन्द त्रिपाठी–94
120 अन्तरा – अज्ञेय पृ० 28
121 भवन्ती – अज्ञेय
122 आधुनिक हिन्दी साहित्य – अज्ञेय
123 आधुनिक हिन्दी साहित्य – अज्ञेय
124 हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी – निर्मला जैन पृ० 85–86
125 तारसप्तक – सं० अज्ञेय पृ० 222
126 दूसरा सप्तक – सं० अज्ञेय पृ० 10
127 तीसरा सप्तक – सं० अज्ञेय पृ० 8
128 तारसप्तक – सं० अज्ञेय पृ० 243
129 तारसप्तक – सं० अज्ञेय पृ० 243
130 तीसरा सप्तक – सं० अज्ञेय पृ० 7–8
131 लिखि कागद कोरे – अज्ञेय पृ० 82
132 लिखि कागद कोरे – अज्ञेय पृ० 82
133 लिखि कागद कोरे – अज्ञेय पृ० 97
134 वर्तमान साहित्य – आलोचना विशेषांक भाग–1 (अरविन्द त्रिपाठी) पृ० 97
135 हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 263
136 हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी – निर्मला जैन पृ० 86
137 क.ख.ग. (पत्रिका) – सं० लक्ष्मीकान्त वर्मा पृ० 116
138 हिंदी आलोचना का विकास – नन्द किशोर नवल पृ० 308
139 क०ख०ग० (पत्रिका) – अप्रैल 1966
140. विकल्प (पत्रिका) – नवम्बर 1967
141 साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य – रघुवंश पृ० 311
142 साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य – रघुवंश पृ० 126
143 विकल्प (पत्रिका) – नवम्बर 1967
144 समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता – रघुवंश पृ० 34
145 समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता – रघुवंश पृ० 24
146 समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता – रघुवंश पृ० 55
147 हिंदी आलोचना का विकास – नन्द किशोर नवल पृ० 328
148 हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी –निर्मला जैन पृ० 88–89
149 नयी कविता के प्रतिमान – लक्ष्मीकान्त वर्मा पृ० 29
150. नयी कविता के प्रतिमान – लक्ष्मीकान्त वर्मा पृ० 32
151 छठवांदशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 219
152 नये प्रतिमान : पुराने निकष – लक्ष्मीकान्त वर्मा पृ० 291
153 हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी – निर्मला जैन पृ० 89
154 नयी कविता : सैद्धान्तिक पक्ष (पत्रिका) सं० जगदीश गुप्त पृ० 37
155 नयी कविता : सैद्धान्तिक पक्ष (पत्रिका) सं० जगदीश गुप्त पृ० 37
156 हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 266
157. मानवमूल्य और साहित्य – धर्मवीर भारती

158 मानव मूल्य और साहित्य – धर्मवीर भारती
159 आधुनिक हिंदी आलोचना : समीक्षा और दृष्टि – रामचन्द्र तिवारी पृ० 181
160 सर्जन और भाषिक संरचना – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 17
161 हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 195
162 हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 110
163 कामायनी का पुनर्मूल्यांकन – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 9
164 हिन्दी गंद्य : विन्यास और विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 224
165 हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 263

तृतीय अध्याय

विजयदेव नारायण साही का आलोचना कर्म

छठवां दशक
साहित्य क्यों ?
लोकतन्त्र की कसौटियाँ
वर्धमान और पतनशील
साहित्य और साहित्यकार का दायित्व
जायसी

स्वातंत्रयोत्तर भारत में हिन्दी साहित्य के इतिहास में कवि–आलेचक विजयदेव नारायण साही का योगदान अप्रतिम है। साही एक आलोचक की अपेक्षा 'चिन्तक' ही अधिक है। अपने 'चिन्तन' से 'साही' ने 'हिंदी आलाचेना' को एक नयी भाव–भूमि दी जिससे हिंदी आलोचना' नयी कविता के दौर में एक नये भाव–बोध से सपृक्त होकर विकासमान होती है। साही का दौर टकराहटों से उपजी 'आलोचना' का दौर था। अरविन्द त्रिपाठी के अनुसार "इसी दौर में नामवर बनाम साही, नामवर बनाम अज्ञेय, नामवर बनाम नगेन्द्र, लक्ष्मीकान्त बनाम साही अमृतराय, बनाम परिमल, मुक्तिबोध बनाम अज्ञेय, परिमल बनाम प्रगतिशील लेखकसंघ, नई कविता बनाम नई कहानी, कलावाद–व्यक्तिवाद बनाम मार्क्सवाद जैसे दर्जनों साहित्यिक मुकद्दमें चले।"[1]

साही अपनी तत्वान्वेषी तीक्ष्ण दृष्टि से साहित्य को समाज के सन्दर्भ से, राजनीति के सन्दर्भ से, दर्शन–धर्म के सन्दर्भ से देखते–सुनते, विचारते रहे। इस व्यापक भाव भूमि की दृष्टि से साही साहित्य के 'आलोचक' कम उसके 'दार्शनिक' अधिक लगते हैं। साही का स्वयं का मानना है कि "आलोचना साहित्य का दर्शनशास्त्र है। और उसका एक काम यह भी है कि वह संशलिष्ट उत्तर का विश्लेषण करके उसकी सीमारेखा को सुस्पष्ट और तीक्ष्ण बनाये, नहीं तो जीवन के प्रति साहित्य का स्पर्श–गूँगे के गुड़ की तरह होकर रह जायेगा।"[2]

अपनी डायरी में साही अपने आलोचकीय विवेक को लेकर जो उधेड़–बुन करते हैं उससे उनकी 'आलाचेकीय समझ' पर प्रकाश पड़ता है। 12–1–48 को 'डायरी' में साही लिखते हैं "क्या मैं सफल आलोचक हो सकता हूँ? मेरी भाव ग्रहिका शक्ति किस–किस प्रकार कार्य प्रतिकार्य करती है ,उसके व्यवहारों के प्रति कुछ न कुछ निश्चित जागरुकता तो मेरे भीतर अवश्य है। जीवन के विभिन्न अनुभव क्षेत्रों में सिद्धान्तों को लागू करने की भी क्षमता मैंने अपने में देखी है। अपने सीमित ज्ञान के अनुसार मैं निष्पक्षता भी रख सकता हूँ, परन्तु यह सब होते हुए भी मुझे पूर्ण विश्वास नहीं होता कि मैं आलोचक हो सकता हूँ। तर्क–वितर्क का शास्त्रीय गद्य लिखने की योग्यता मैं अपने में नहीं पाता। मैंने अपने गद्य को गौर करके देखा

है, भावुक स्थानों पर उसमें निश्चय ही शक्ति आ जाती है। परन्तु केवल दार्शनिक या तार्किक स्थलों पर मेरी लेखनी में लडखडाहट उत्पन्न हो जाती है। भला जो **शान्त, तर्कपूर्ण, शक्तिवान** गद्य नहीं लिख सकता वह आलोचक क्या होगा? यह मैं जानता हूँ कि प्रयत्न करके अच्छी गद्य शैली अपनाई जा सकती है। पर कौन इस जरा से काम के लिए इतनी मेहनत करने जाये। इतना तो मैं समझता हूँ कि कहानी या नाटक के गद्य में यह दुर्बलता नहीं आयेगी। कारण स्पष्ट है। कहानी या नाटक में कल्पना चित्रों में सोचना संभव है तर्क में संभव नहीं था।"[3] तात्पर्य कि यह उधेड़बुन' सिर्फ अपने के लिए नहीं है, बल्कि आलोचना कैसी हो, किस तरह लिखी जाए, बहस इस पर ज्यादा केन्द्रित है। शान्त, तर्कपूर्ण, शक्तिवान' इन तीन सूत्रों में से साही तर्कपूर्ण, शक्तिवान' पर तो खरे उतरते हैं पर शांत' शायद वे कभी नहीं हो सके। जब तर्कपूर्ण और शक्तिवान' बहस चल रही हो तो लेखनी 'शान्त' कैसे रह सकती है।

साही बहुमुखी प्रतिभा के पुरोधा रहे हैं। अंग्रेजी विषय में अध्यापन के साथ–साथ समाजवादी पार्टी (लोहिया) के कार्यकता होने और हिन्दी की नयी कविता के 'कवि' व्यक्तित्व से साही 'हिंदी आलोचना' में प्रस्तुत होते हैं। साही के बहुमुखी व्यक्तित्व से 'हिन्दी आलोचना' न सिर्फ अर्थवान होती है बल्कि नई समीक्षा भी संदर्भवान होती है।

'आलोचना' का काम साहित्य में क्या है? साही का मानना है कि "आलोचना का काम साहित्यिक कृति की संवदेना को जबरदस्ती खींचकर पाठक तक पहुंचाना नहीं है। आलोचना सिर्फ इतना कर सकती है कि पाठक के जो भी वैचारिक या धारणात्मक पूर्वग्रह जाने या अनजाने अपनी उपस्थिति या अनुपस्थिति के कारण पाठक को उस ओर उन्मुख होने से रोक रहे हैं जहाँ से काव्य का 'प्रभाव' प्रवाहित हो रहा है, उन्हें विनष्ट करके पाठक को एक उचित तत्परता की अवस्था में छोड़ दे।"[4] कुल मिलाकर आलोचना का काम व्याख्या करना भर नहीं है, बल्कि पाठक में एक आलोचक संवेदना भी जगाना है।

साही का आलोचना कर्म स्फुट लेखन के रूप में ही रहा है। 'जायसी' (मूलरूप में तो भाषण है) को छोड़कर उन्होंने अपने विचार लेखों भाषणों के माध्यम से ही व्यक्त किये हैं। साही के लेखों का संग्रह उनकी मृत्यु के बाद जीवनसंगिनी कंचनलता साही ने बड़े मनोयोग से संग्रहित कर प्रकाशित कराया है। साही अपने लिखे को छापने के लिए कभी तैयार नहीं होते थे। न छापने की उनकी स्थिति उनके 'कविता कर्म' में भी रही है। पूरे जीवन में साही का एकमात्र प्रकाशित कविता संग्रह 'मछलीघर' है। 'मछलीघर' की भूमिका में साही स्वयं स्वीकार करते है कि "पुस्तक प्रकाशित करने में मैं अब तक बडा संकोची रहा हूँ। मनोविज्ञान की भाषा में शायद यह भी कोई मनोग्रंथि हो। मेरे लिए तो इसके पीछे कुछ तो काहिली और कुछ साहित्य के प्रति अतिरिक्त आदर–भावना ही थी।[5]

छठवां दशक, साहित्य क्यों? लोकतन्त्र की कसौटियाँ, वर्धमान और पतनशील के साथ–साथ साहित्य और साहित्यकार का दायित्व (जो भाषण है, हिन्दी साहित्य सम्मेलन में 25 सितम्बर 1982) साही जी के प्रकाशित निबन्ध संग्रह है। 'जायसी' साही की व्यावहारिक समीक्षा की एकमात्र पुस्तक है। यद्यपि इसमें भी अधिकाशंतः उनके हिंदुस्तानी एकेडेमी में दिये गये व्याख्यानों का प्रकाशित रूप है। जायसी के प्रकाशकीय में डॉ0 जगदीश गुप्त कहते हैं कि ''जायसी' हिन्दुस्तानी एकेडेमी में 17,18,19 मार्च 1982 को आयोजित स्व० विजयदेव नारायण साही के तीन विशिष्ट व्याख्यानों का प्रकाशित रूप है। व्याख्यानों के रूप में पठित अंशों के अतिरिक्त इनमें वे लिखित अंश भी समाहित हैं जो समयाभाव के कारण पढ़े नहीं जा सके।"

छठवां दशक

'छठवा दशक' साही का बहुचर्चित निबन्ध संग्रह है। सन् 50 से 64 तक के बीच लिखे गये निबन्धों को इसमें शामिल किया गया है। संयोग से साही ने इसकी अधूरी भूमिका लिखी है। वैसे इसका प्रकाशन तो सन् 1966 में ही होना था लेकिन साही की तथाकथित मनोग्रन्थि के कारण इसका प्रकाशन 'साही' की मृत्यु के बाद 1987 में हो सका। 'भूमिका' में साही कहते हैं" इन लेखों को लिखे हुए काफी अर्सा

गुजर गया। इनमें से पहला लेख तो 1950 में लिखा गया और सबसे बाद वाला 1964 में। कुल मिलाकर इन लेखों में हिन्दी के छठवें दशक के ही आत्मा है"।[7]कुल सत्रह निबन्धों में साही ने छठवें दशक की हिन्दी आलाचेना में उठने वाले तमाम प्रश्नों से टकराने की कोशिश की है। अधिकांश लेख 'मार्क्सवाद' के विरोध में लिखे गये हैं। साथ ही सत्ता और साहित्य के सम्बन्धों के साथ–साथ ही साही के आलोचना कर्म के महत्वपूर्ण अवदान 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट', 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' निबन्ध भी इस संग्रह में शामिल है।

भाषा और रचनाकार की भाव–भूमि साही के अध्ययन की केन्द्रीय भूमि रही है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में कविता के तीन महत्वपूर्ण मोड़ मिलते हैं। साही के अनुसार "भारतेन्दु–युग, छायावाद का प्रारिम्भक काल और युद्धोत्तर हिन्दी साहित्य में नई कविता के नये उत्थान में हम हिन्दी की अदम्य प्रगति की तीन महत्वपूर्ण चरणों का आभास पाते हैं।"[8] छठवां दशक में साही आधुनिक हिन्दी कविता के समसामयिक साहित्यिक वातावरण, और राजनीति को केन्द्र बिन्दु मानकर कहते हैं कि साहित्यिक वातावरण के निर्माण में साहित्यिक गोष्ठियों का महत्व बहुत अधिक होता है। यूरोप से लेकर भारत तक में इसे परिलक्षित किया जा सकता है। समकालीन वातावरण के विश्लेषण में 'साहित्यिक गोष्ठियां' एक प्रामाणिक दस्तावेज होती है। साही का मानना है कि "समकालीन वातावरण का विश्लेषण करते हुए हम एक सर्वथा नवीन तत्व के उदय से परिचित होते हैं। वह है हिन्दी के विभिन्न केन्द्रों में शक्तिशाली साहित्य गोष्ठियों का उदय। साहित्य के विकास में साहित्यिक वातावरण का एक विशेष महत्व होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रांस और अन्य पाश्चात्य देशों की साहित्यिक प्रगति में इन गोष्ठियों का एक महत्वपूर्ण योग रहा है।"[9]

साही ने यूरोप के साहित्य से हिन्दी की तुलना करते हुए बताया कि यूरोप के साहित्य में उनके राजधानी' का प्रभाव रहा है। इसके लाभ भी हैं, हानि भी। 'केन्द्रिय भाषा' में' विशेषीकरण और परिमार्जन की प्रगति तीव्र होती है इससे भाषा

में निखार अवश्य आ जाता है, परन्तु साथ ही समरसता और सीमित क्षेत्र के कारण पतनोंन्मुख पच्चीकारी का भी खतरा रहता है। उर्दू इसका दुःखद उदाहरण है।"[10]

एक राजनैतिक कार्यकर्त्ता और साहित्यिक विचारक होने के नाते साही सत्ता और साहित्य के सम्बन्ध को अपने अनुभव से विश्लेषित करते रहते हैं।

साहित्य में जब–जब राजनीति ने प्रवेश किया है साहित्य की गति में गतिरोध आया है। 'हिन्दी साहित्य' में राजनीति का हस्तक्षेप बराबर बना रहा। भक्तिकाल के कवि भी इस समस्या से जूझते रहे। आधुनिक काल में तीसरे दशक के बाद साहित्य में राजनीति का प्रभाव अधिक बढ़ा। मार्क्सवादी विचारिकों ने साहित्य की विवेचना के बजाय मार्क्सवादी पाटी के एजेण्डे को साहित्य में घोषणा–पत्र के रूप में जगह दी। यह एक तरह की गुटीय राजनीति का साहित्यिक खेमावादी रूप है। खुद प्रसिद्ध प्रगतिशील विचारक अमृतराय का मानना है कि "हमारा आधार बिल्कुल संकुचित हो गया है और हम सभी नये और पुराने हिन्दी–लेखकों से कटकर अलग जा पडे है और महज एक गुट बनकर रह गये हैं.. यह हमारी वामपक्षी संकीर्णता ही थी जिनके कारण हम आधुनिक हिन्दी सहित्य के निर्माण की मुख्यधारा से कटकर अलग जा पड़े।"[11] साही इसका कारण मानते हैं कि "वह प्रगतिशील न होकर दलानुशासित था, व्यापक सामाजिक मूल्यों के बजाय किसी विशेष दल की सामयिक नीति को साहित्य–सृजन का आधार मान बैठा।"[12]

साही ने बार–बार दलानुशासित साहित्य को 'साहित्य' के लिए एक बडा खतरा माना। मार्क्सवाद के सिद्धांतों के आधार पर जब हिंदी साहित्य की रचना की जाने लगी, आलोचना के प्रतिमानों का निर्धारण किया जाने लगा तो साही की 'मनुष्य–नाभीय' आलोचक चेतना शक्ति ने इस बात का जबरदस्त विरोध किया। यद्यपि उनका यह विरोध भी एक खास किस्म के खेमावादी दृष्टिकोण का ही परिचायक था।

'रचनाकार और उसका परिवेश' साही की विवेचना का मुख्य बिन्दु है इसीलिए साही ने 'व्यक्ति' और परिवेश को अपनी आलोचना में पर्याप्त महत्व दिया है। 'व्यक्ति' और 'परिवेश' पर बल देने का प्रयास लगभग सभी आलोचको ने किया

है। सत्य प्रकाश का मिश्र का मानना है कि "व्यक्ति और परिवेश सम्बन्धी दो दृष्टियॉ मनुष्य को आविष्कृत करने के क्षेत्र में दुनियॉ के विचारकों में 18वीं शताब्दी से ही कभी एक पर और कभी दूसरे पर अधिक बल के साथ विद्यमान रही है।"[15] प्रसिद्ध समाजवादी राजनेता डॉ0 लोहिया परिवेश के दुगुर्ण तत्वों की पूँजीवाद, साम्यवाद और समाजवाद में उपस्थिति को हानिप्रद मानते हैं। गांधी जी पर विचार करते समय डॉ० लोहिया 'व्यक्ति–परिवेश' के ही सन्दर्भ में कहते हैं "गांधी जी में व्यक्ति पर अधिक और परिवेश पर कम बल देने की प्रवृत्ति है। यह भी महसूस किया जाना चाहिए कि समाजवाद में परिवेश को अधिकतर और व्यक्ति को कमतर महत्व देने की प्रवृत्ति है। अगर विचारों के तार्किक विधान का तरीका निकलाना है तो दोनों पर समान जोर देना होगा।"[16]

'व्यक्ति और परिवेश'– जिसके अन्तर्गत मानव–समाज और उसका भौतिक जगत–अनुस्यूत रहता है और यही 'मनोभूमि' के निर्माण का स्थल है से साही समाज, व्यक्ति और उसमें 'साहित्य के सम्बन्ध के अध्ययन पर अपने को केन्द्रित करते हैं। 'परिवेश' और 'व्यक्ति' को लेकर हिन्दी आलोचना दो दृष्टियों में विभाजित हो गयी। 'परिवेश' को बदलने का उपक्रम मार्क्सवादी विचारक करते रहे तो 'व्यक्ति' चेतना की वकालत अज्ञेय समर्थित विचारक। वैसे आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'परिवेश' और 'व्यक्ति' की स्थिति के दो महत्वपूर्ण बदलाव बिन्दु है। एक तो तब जब "आज से लगभग चार दशक पहले नये युग के उत्थान के साथ हमारे ऐतिहासिक व्यक्तित्व के प्रश्न को अपने सबसे अनगढ़ रूप में मैथिलीशरण गुप्त ने पूछा था, लेकिन जिस आघात की यह प्रतिक्रिया थी, वह आघात वास्तविक था। भारत–भारती का आरम्भ इसी प्रश्न से होता है :

हम कौन हैं, क्या हो गये थे,
और क्या होगें अभी
आओ विचारें आज मिलकर
ये समस्याएं सभी।"[17]

चार दशक की यात्रा के बाद न सिर्फ हमारा परिवेश बदला, बल्कि मनुष्य भी बदला। परिवेश और मनुष्य के बदलाव के कारण जो प्रश्न आज से चार दशक पहले प्रारम्भिक प्रश्न के रूप में प्रस्तुत होता है चार दशक बाद का कवि अपना

प्रश्न अन्तिम रूप से प्रस्तुत करता है। साही ने भारत–भूषण अग्रवाल की कविता के माध्यम से मैथिलीशरण गुप्त के युग से अपने युग का अन्तर स्पष्ट किया।

"कौन–सा पथ है?
मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही ने पुकारा
कौन–सा पथ है? (भारत–भूषण अग्रवाल)

"'भारत–भारती' से 'नई कविता' तक एक बड़ा सफर है जिसमें न जाने कितनी मंजिले पडी है। एक युग था जब मैथिली शरण गुप्त के लिए यह प्रश्न काव्य की प्रथम पंक्ति थी। आज का कवि वहॉ अपनी कविता समाप्त करता है जहॉ पहले कवि ने आरम्भ किया था। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसने हमारे इस अन्वेषण में पूरी सफलता नहीं प्राप्त की है, परन्तु उस पर निषेध का आरोप भी नहीं किया जा सकता– क्योंकि वह सही प्रश्न पूछ रहा है।"[18]

'राजनीति और साहित्य' साही के व्यक्तित्व के बहुमुखी आयाम रहे हैं। साही स्वयं विशुद्ध राजनीतिक रहे हैं। राजनीति के लिए उन्होंने संघर्ष भी किया है। कालीन बुनकरों को लेकर उन्होंने जबरदस्त आन्दोलन चलाया, लोकसभा का चुनाव लड़ा। आचार्य नरेन्द्र देव, जय प्रकाश नारायण, लोहिया से साही का अभिन्न सम्बन्ध रहा है। साही के विचारों में इनके प्रभाव को लक्षित किया जा सकता है। राजनेता और साहित्यकार होने के नाते साही ने 'राजनीति और साहित्य' के सम्बन्ध को पूरी ईमानदारी से टटोलने का प्रयास किया। 'तीसरा सप्तक' के 'कवि–वक्तव्य' में अपने कविता सम्बन्धी दृष्टिकोण को साही ने पच्चीस शीलों में व्यक्त किया है। 'आठवां शील' में साही कहते हैं : **"कविता को राजनीति में नहीं घुसना चाहिए क्योंकि इससे कविता का कुछ न बिगड़ेगा, राजनीति के अनिष्ट होने की संभावना है।**[19] समाज के उपरी कलेवर के बदलाव में राजनीति का प्रमुख हाथ होता है। इसलिए राजनीति का विषय साही के लिए 'कविता' से अधिक महत्व का हो जाता है जब वे 'ग्यारहवां शील' में कहते हैं –

"कविता से समाज का उद्धार नहीं हो सकता। यदि सचमुच समाज का उद्धार करना चाहते हैं तो देश का प्रधानमंत्री बनने या बनाने की चेष्टा कीजिए।"[20]

छठे दशक की हिन्दी आलोचना मे प्रगतिशील बनाम परिमल की टक्कर बराबर होती रही। साही तथाकथित 'जनवाद' की वकालत करने वाले साहित्यक आलोचकों से बराबर टकरातें हैं। विरोध इस स्तर पर करते हैं कि विचारधारा से युक्त मीमासा अर्थहीन होती। साही स्वीकारते है कि "साहित्य और समाज मे गहरा सम्बन्ध है, इस विषय मे कोई मनभेद सम्भव नहीं।"[21] पर जब वे और अधिक गहराई में इस प्रश्न को लेकर उतरते हैं तो उन्हें समाज और उससे व्यक्ति का सम्बन्ध क्या है ? और उसकी अभिव्यक्ति से कोई कृति श्रेष्ठ या कमतर कैसे आंकी जाती है ? आदि–आदि प्रश्नों से अपने को जूझते पाते हैं। साही की आलोचना की एक खास विशेषता रही है कि वे बराबर प्रश्नों को लेकर ही उधेड़बुन करते रहते हैं, कोई उत्तर नहीं देते। परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार "एक सही सटीक उत्तर तो अनिश्चित ही है।"[23]

अविराम बहसों में साही ने बराबर मार्क्सवादी राजनीतिक दृष्टिकोण की भर्त्सना की है। 'पक्ष–विपक्ष' की इस मारधाड़ में साही ने मार–धाड़ की ही शैली में ही 'साहित्य और समाज' को लेकर जो उधेड़ बुन की है उसमें उनका निशाना तथाकथित समाज और साहित्य की दुहाई देने वाले प्रगतिशील विचारक हैं। जनवादी विचारकों को रहस्यवाद की कसौटी में रखते हुए साही कहते हैं" रहस्यवाद दो प्रकार का होता है। एक वह जिसमें साधक को सचमुच ज्ञात नहीं होता कि उनका प्रेय है क्या। वह केवल उसका आभास मात्र पाता है और भक्ति करता है। ऐसे रहस्यवादी हमारे संत थे यह ऋजु रहस्यवाद है। दूसरा रहस्यवाद वह होता है जिसमे साधक खूब अच्छी तरह से जानता है कि वह क्या चाहता है, किन्तु उसे साफ–साफ कहना शर्म या खतरे की बात समझकर शब्दों का आडम्बर खड़ा करता है। हिन्दी में 'जनवाद' के प्रणेता, ये सामाजिक रहस्यवादी, इसी श्रेणी में आते हैं।"[23]

हिन्दी आलोचना में रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी का स्थान दो ध्रुवात्तों के रूप में है। प्रगतिशील साहित्य के विचारक रामचन्द्र शुक्ल को हिन्दूवादी यानी कि धर्मपूजक स्वीकार करते हैं–अपवाद के रूप में रामविलाश शर्मा हैं–तो हजारी प्रसाद द्विवेदी को मानव धर्मी चेतना के व्याख्याता के रूप में यानी की एक

प्रगतिशील विचारक के रूप में। साही ने हजारी प्रसाद द्विवेदी के ही नजरिये से जनवादी साहित्यकारों के विचारों की कडी परीक्षा ली है। हिन्दी साहित्य[24] में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य में अन्तर मानते हुए लिखा है कि "नवीन आदर्श से चालित साहित्य का नाम 'प्रगतिशील' साहित्य है। इसी की एक निश्चित तत्ववाद पर आश्रित शाखा 'प्रगतिवादी' साहित्य है। 'प्रगतिवादी' शब्द व्यापक है, किन्तु 'प्रगतिशील' एक निश्चित तत्ववाद को सूचित करता है।"[25]

साही व्यंग्यात्मक लहजे में पूछते हैं कि "यह प्रगतिशील साहित्य एक नवीन आदर्श से चालित है।" 'नवीन' का एक ही अर्थ हो सकता है: यह आदर्श सन्तों में नहीं था, भारतेन्दु युग मे नहीं था, द्विवेदीयुग मे नहीं था, छायावाद मे नहीं था। यूरोप में भी शायद यह शेक्सपीयर, बालजाक, गेटे में नहीं था। पोप और ड्राइन में तो शायद नहीं ही था। न केवल नवीन ही, बल्कि इसने एक 'अधिक व्यापक और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया हैं। किसकी तुलना में ? एक अर्थ तो यह हो सकता है कि आज तक के समस्त साहित्य की तुलना में। दूसरा शायद यह है कि खडी बोली के आधुनिक साहित्य की तुलना में। और तीसरा अर्थ जो सबसे सीमित है उसे ही मानें, तब भी विचारणीय है कि ऐसा कौन सा आदर्श 'प्रगतिशील' साहित्यकारों ने प्रस्तुत कर दिया है जो समकालीन वे साहित्यकार नहीं प्रस्तुत कर सके हैं जो प्रगतिशील नहीं कहे जाते या कहलाया जाना पसन्द नहीं करते।"[26]

सत्ता से दूर विचारधारा का ही नहीं सत्ताप्रेम की विचारधारा का भी विरोध साही ने किया है। साही इसे साहित्य के लिए बहुत ही दुःखद स्थिति मानते हैं। साही इस बात से सहमत हैं कि सरकार लेखक की सहायता करें, किन्तु लेखक का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह सरकार की सहायता करे। लेखक जब तक समाज से जुडा रहता है, उसका सर्जनात्मक रूप उपयोगी होता रहता है लेकिन जब वह सत्ता से जुड़ जाता है, सत्ता के विचारों को ही अपनी भाव–भूमि मान लेता है तो वह प्रचारात्मक साहित्य का निर्माण करने लगता है, किसी सर्जनात्मक साहित्य का नहीं। साथ ही साही के लिए यह प्रश्न नैतिकता का भी है। वे कहते हैं कि "रेडियों में जाना चाहते हैं, शौक से जाइये। सूचना विभाग में नौकरी मिल रही है, शौक से करिये। लेकिन ईश्वर के लिए इस भुलावे को आश्रय न दीजिये कि वहाँ आप

जनमानस का निर्माण कर रहे हैं देश के प्रति या अपने प्रति लेखक का दायित्व पूरा कर रहे हैं। क्योंकि कला, साहित्य, संस्कृति का विकास उन कविताओं , कहानियों, उपन्यासों, नाटकों से होगा जो आप इस प्रकार आजीविका प्राप्त कर तथा समय बचाकर लिख पायेगें । इस भ्रामक घटाटोप को भी काटने का प्रयास किजिये कि लेखक की प्रतिभा का मानदण्ड यह है कि कितनी बडी नौकरी, या कितनी बड़ी प्रतिष्ठा उसे इन विभागों में मिल रही है।"[27]

साही के ये विचार छठें दशक की आत्मा को ही व्यंजित करते हैं। मूलतः इन विचारों को 'वाद–विवाद' के सन्दर्भ से देखा जाता है। पर विरोध का स्वर धीरे–धीरे 1957 के बाद कुछ नरम होने लगता है। ऐसा नहीं है कि 'मार्क्सवाद' के प्रति प्रेम या सत्तावादी राजनीति के प्रति प्रेम बढ जाता है। लेकिन साही इनके बाद साहित्य के विचारक अधिक लगने लगते हैं एक राजनैतिक विचारक नेता कम। मार्क्स से साही प्रभावित जरूर हैं लेकिन उसके साहित्यिक रूपान्तरण से नही। वैसे साही में सबसे अधिक प्रभाव लोहिया का रहा है। लोहिया की समाजवादी दृष्टि का प्रभाव साही के 57 के बाद के आलोचना कर्म में लक्षित किया जा सकता है। साही का आलोचना कर्म 'शमशेर का काव्यनुभूति की बनावट'[28] में आकर नयी करवट लेता हैं। अब तक साही साहित्यिकार के परिवेश, आजीविका, साहित्यक वाद–विवाद में ही अपने को संलग्न किये रहे, लेकिन 'शमशेर' तक आते–आते साही इन सभी तत्वों को अपने में पचाकर नयी भाव–भूमि पर अपने खड़ा करते हैं।

'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' में साही ने शमशेर की कविता के सन्दर्भ से हिंदी कविता में आये बदलाव को लक्षित करने का प्रयास किया है। परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार " शमशेर पर शायद पहला विस्तृत, व्यवस्थित और उत्तेजक निबन्ध जो शमशेर की दुरूह कविताओं की व्याख्या की दृष्टि से चर्चा में रहा है और शमशेर की काव्य प्रक्रिया पर सार्थक सटीक टिप्पणियों के कारण भी।"[29]

साही ने शमशेर को न सिर्फ भारतीय हिंदी कविता की जातीय धारा का कवि माना है बल्कि उनकी कविता में एक तरह की विडम्बना का तत्व भी ढूढ़ा है।

यूरोपीय साहित्यकार 'मालार्मे' मे भी बहुत कुछ ऐसा ही था। साही मालार्मे के बारे मे कहते हैं कि " जितने गहरे मालार्मे को यह विश्वास जकड़ता जाता था कि चारों ओर भौतिक जड़ जीवन के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है, उतना ही काव्यानुभूति के लिए आवश्यक अतिक्रमण उसे असम्भव दिखता था। सृजन–प्रक्रिया स्वयम् में ही एक विशाल व्यर्थता का प्रतीक लगती थी। मालार्मे के पास इस अपाहिज विडम्बना का एक ही हल था लिखा ही न जाय। 'सृष्टि' के प्रति नफरत और नितान्त न कुछ का बजर–प्रेम। कविता के जन्म में ही निषेध का तीर बिंधा हुआ है।"[30]

'निषेध का तीर' साही को शमशेर मे भी मिलता है। निषेध का तात्पर्य साहसी के लिए संकोच के रूप में आशय है। संकोच को 'सिमटना' मानते हुए साही कहते हैं कि "कविता सिर्फ जन्म ही नहीं लेती, वह कवि से अलग होकर एक सार्वजनिक अस्तित्व ग्रहण करती है। जन्म और अस्तित्व, काल–क्षण और काल–प्रवाह के बीच एक दरार है। शून्य से नितांत न कुछ से, कविता का जन्म होता है – इस गति में शायद रूकावट नहीं है, लेकिन जन्म लेते ही एक प्रतिगति भी सक्रिय होती है । शमशेर की कविता में एक प्रतिगति है , शून्य, उसी न कुछ में वापस चले जाने की।"[31]

साही शमशेर को सौन्दर्य का कवि मानते हैं । शमशेर ने स्वयं दूसरा सप्तक के व्यक्तव्य में लिखा है "सुंदरता का अवतार हमारे सामने पल छिन होता रहता है। अब यह हम पर है कि हम अपने सामने और चारों ओर की उस अनंत और अपार लीला को कितना अपने अंदर घुला सकते है।"[32] साही शमशेर की इस उक्ति को महत्वपूर्ण मानते हुए कहते हैं "तात्विक रूप से शमशेर की काव्यानुभूति सौन्दर्य की अनुभूति है।"[33] शमशेर की तुलना छायावाद से करते हुए बल्कि यों कह लें कि नयी कविता और छायावाद के अन्तर को स्पष्ट करते हुए साही कहते हैं "जिन लोगों का ख्याल है कि छायावाद के बाद हिंदी कविता ने सौन्दर्य का दामन छोड़ दिया है, उन्होंने शायद शमशेर की कविताओं का आस्वादन करने का कष्ट कभी नहीं किया। मैं एक कदम और आगे बढ़कर कहना चाहूँगा कि आज तक हिन्दी में विशुद्ध सौन्दर्य का कवि यदि कोई हुआ है तो वह शमशेर हैं।"[34]

साही ने विस्तार से शमशेर के काव्य शिल्प, खासकर बिम्बों पर विचार किया है। उन्हें 'बिम्ब' का कवि न मानकर 'बिम्बलोक' का कवि माना है। बिम्ब और 'बिम्बलोक' में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते है कि साही "यह उसी तरह का अन्तर है जो विष्णु और विष्णुलोक में है।"[66] और "शमशेर की कविता में घिरे हुए असीम को बिम्ब की बिम्बात्मकता नहीं उसकी बिम्बलौकिकता भरती है। अन्तिम रूप मे शमशेर की काव्यानुभूति बिम्ब की नहीं बिम्बलोक की अनुभूति है। इसी का निर्माण वे बार–बार करते हैं और विविध बिम्बों के बावजूद एक ही कविता लिखते हैं।"[36]

'नई–समीक्षा' 'भाषिक–विश्लेषण' की समीक्षा है। नई समीक्षा के आलोचक साही का मानना है कि शमशेर ने अपनी कविता में बिम्बों के साथ सधे हुए शब्दों का प्रयोग किया है। सधे हुए शब्दों का महत्व धीरे–धीरे उन्हें मौन की स्थिति में ले जाता है। यह एक तरह से अर्थशक्ति का द्योतक है। साही के अनुसार शब्दों का पाश जो टूटा है या शब्द में जो नयी अर्थशक्ति आयी है वह हिन्दुस्तान में पहली बार नहीं आई है। "शब्द की अर्थशक्ति में इतना बड़ा परिवर्तन हिन्दुस्तान में एक बार और हो चुका है जब गुमनाम ध्वनिकार ने व्यंजना शक्ति का आविष्कार किया। उस समय शब्दों के पास टूटने की अनुभूति हुई होगी।"[37]

ध्वनिकार से शमशेर की संबद्धता में साही का उद्देश्य यह रहा कि वे शमशेर ही नहीं, नयी कविता को हिन्दुस्तान की पुरानी उपलब्धियों के सन्दर्भ में ही देखने का प्रयास करते हैं। वे आज की कविता की समस्या को उसी रूप में पाते हैं जैसा ध्वनिकार के समय में रही होगी। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साही पुनरुत्थानवादी आलोचक हैं। साही साहित्य की समझ के लिए पूर्व–प्रचलित मानदण्डों को नये सन्दर्भ से देखने की वकालत करते हैं। इसीलिए साही जोर देते हैं कि "नयी कविता को ठीक–ठीक देखने के लिए नयी कविता के प्रतिमान की जरूरत नहीं है, बल्कि कविता के नये प्रतिमान की जरूरत है।"[38]

कविता के लिए नये प्रतिमानों की खोज हिंदी आलोचना में अलग–अलग सन्दर्भों से की गई। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'नयी कविता के प्रतिमान' में कविता के प्रतिमानों को ही खोजा। यह अलग बात है उनका पूरा जोर 'नयी कविता' के

सन्दर्भ में रहा। प्रतिमानों की खोज कुल मिलाकर कविता की ही खोज है। कविता का जब रंग, रूप बदल गया, भाषा का स्तर दुहरा हो गया तो प्रतिमान क्यों नहीं बदले। क्या ऐसी कोई धारणा हो भी सकती है, कोई पैमाना हो सकता है जिसमें कालिदास भी उपस्थित हों, तुलसी भी, शमशेर भी? नामवर सिंह ने 'कविता के प्रतिमान' में जिन प्रतिमानों को खोजा वक्तव्य में प्रतिमान की खोज का निषेध है – क्या उनसे छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद, नयी कविता को नापा जा सकता है? 'प्रतिमानों की खोज की दृष्टि से साही का प्रबन्धात्मक लेख 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस[39] (छायावाद से अज्ञेय तक)' एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। साही ने इस प्रबन्ध निबन्ध में विस्तार से छायावाद से लेकर अपने समय तक की कविता की जॉच पहचान की है। द्वितीय विश्वयुद्ध एक तरह से 'मनुष्य' के अस्तित्व को संकट में खड़ा कर देता है। साहित्यिक जगत में इसी सन्दर्भ से 'लघुमानव' की वकालत शुरू हो गयी। इतिहास के पन्नों में इस का कोई जिक्र तो नहीं मिलता लेकिन साहित्यकारों के लिए यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न हो गया, राजनैतिक दृष्टि से, सामाजिक सन्दर्भ से और परिवेश की दृष्टि से। 'लघुमानव' की स्थापना का श्रेय हिंदी साहित्य में विवेचना के स्तर पर लक्ष्मीकान्त वर्मा को है। 'लघुमानव' को केन्द्रित करते हुए साही ने इसे सिर्फ द्वितीय विश्वयुद्ध की उपज नहीं माना। उनका मानना है कि लघु–महत् मानव के बजाय 'सहज मानव' की स्थापना ज्यादा उचित है। प्रश्नवाची आलोचक साही कहते हैं कि "क्या 'लघुमानव' की मृत्यु हो गयी?...........क्या 'लघुमानव' की कल्पना ने आज के साहित्यिक कृतित्व की रूपरेखा समझने में कोई मदद की या सिर्फ यह एक कौतूहलपूर्ण आग्रह बनकर रह गया? बहुत कुछ ये सारे प्रश्न 'शव–परीक्षा' जैसे लगते हैं।"[40] साही ने पूरे लेख में लघुमानव की 'शव–परीक्षा' ही की है। जब प्रश्न लघु का होगा तो महामानव का भी उठेगा पर साही लघु और महत के बीच सहज 'मनुष्य' की अवधारणा पर अपने को केन्द्रित करते हैं। लेकिन यह सहज मनुष्य सम्पूर्ण मनुष्य नहीं है। साही का मानना है कि मनुष्य 'उपलब्धि और सम्भावना' दोनों का मिश्रण है। और "देश–काल–विपन्न प्रतिक्षण, सर्जित, विसर्जित मानववादी भी मनुष्य को उस 'अनन्त' को जो सम्भावना का विस्तार है, कम से कम भविष्य में फैला हुआ देखता है। और

जो मनुष्य को मूलतः देश कालातीत 'सत्य' मानते हैं वह तो उसकी पकड़ में न आने वाली अनन्ता का ढिंढोरा पीटते ही है।"[41]

साहित्य में इन सभी तत्वों को उद्‌घाटित करना ही आलोचना है, इसीलिए साही का मानना है कि आलोचना "कृति की संवेदना को जबरदस्ती खींचकर पाठक तक पहुँचाना नहीं है। आलोचना सिर्फ इतना कर सकती है कि पाठक के जो भी वैचारिक या धारणात्मक पूर्वग्रह जाने या अनजाने अपनी उपस्थिति या अनुपस्थिति के कारण, पाठक को उस ओर उन्मुख होने से रोके रहे है, जहॉ से काव्य का प्रभाव प्रवाहित हो रहा है उन्हें विनष्ट करके पाठक को एक उचित तत्परता की अवस्था में छोड दे।"[42]

आलोचना के लिए यह निर्धारित मानदण्ड कितना निश्चित मानदण्ड है, यह बहस का विषय है लेकिन स्वयं साही के लिए यह निर्धारित प्रतिमान है। इसी मानदण्ड से साही 'लघुमानव' की शव परीक्षा में 'सहज मनुष्य' को व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं। साही का मानना है कि "मनुष्यता की पूर्णता केवल एक सम्भावना हो सकती है यथार्थ नहीं। यथार्थ है सहज मनुष्य। वह कोई भी हो सकता है।"[43] इसलिए 'लघुमानव' भी 'सहज मनुष्य' है। 'सहज मनुष्य' वैज्ञानिकता की दृष्टि से भले ही अपरिभाषेय हो लेकिन सृजनात्मकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह और बात है कि 'सहज मनुष्य' को साहित्य पकड़ नहीं पाता वह केवल उस केन्द्रित कालबद्ध जाल में फंसी हुई सीमित झलक को पकड़ता है जहाँ से वह केवल आभासित हो सकता है।

इसी निबन्ध में साही आलोचना को साहित्य का दर्शनशास्त्र कहते हैं। तात्पर्य यह कि आलोचक में विवेकसम्मत दार्शनिकता का होना आवश्यक है। इसी विवेक सम्मत दार्शनिकता से साही 'छायावाद' पर विचार करते है। गॉधी वादी युग जिसे साही सत्याग्रह युग से सम्बोधित करते है का सम्बन्ध छायावादी कविता से मानते हुए कहते है कि "छायावाद के कवि परिवर्तनवादी हैं लेकिन मेटाफिजिक्स, मनुष्य देशकालातीत अनन्त सत्व के प्रभामण्डल का दामन नहीं छोड़ते। मेटाफिजिक्स छायावाद के लिए चिन्तन या अनुभव की विद्या उतनी नहीं है जितनी

साही की एक अन्य विशेषता रही है वर्तमान का भूत में फैलाव। इसी फैलाव से साही कालिदास और प्रेमचन्द्र को एक साथ देखते हैं क्योंकि दोनों की दृष्टियॉ यथार्थ को उसके मूल चरित्र से देखने की पक्षपाती रही हैं कालिदास की यथार्थ दृष्टि है, "निरकम्प, निश्चल प्रकाश जो मालवा की पहाड़ियों, उद्दलती हुई नदियों, मथुरा की गंभीर जमुना फूलों को पानी देती हुई वन कन्या, धूल उड़ाते हुए रथ, सोंधी मिट्टी पर बरसते हुए पानी यहाँ तक की मानदण्ड की तरह फैले हुए समुचे हिमालय पर एक सरीखा नवम्बर की धूप की तरह नरम, लेकिन तटस्थ पड़ता है।"[48] यही दृष्टि तुलसी, सूर की भी है और प्रेमचन्द्र, प्रसाद की भी। यह सच है कि एक ही राष्ट्रीय परिस्थिति में शरतचन्द्र आते हैं, प्रेमचन्द्र और प्रसाद भी, लेकिन शरतचन्द्र और प्रेमचन्द में दृष्टि अन्तर यथार्थ दृष्टि–भेद के कारण ही है। "कहने में जैसा भी विरोधाभास लगे– प्रेमचन्द्र की आँखे कालिदास के अधिक निकट हैं। होशोहवास की दुरूस्ती की एक सीमा है जिसके बाहर छायावादी कवि निराला और प्रसाद भी कदम नहीं रखना चाहते। शरत् बाबू के देवदास की तरह प्रसाद के कंकाल का विजय भी आदिम भावनाओं द्वारा ग्रस्त है, लेकिन भावना के उन तिमिराच्छन्न प्रदेशों का सफर नहीं करता जहाँ से बंगाल के लेखक की यात्रा शुरू होती है।"[49]

छायावाद जिसे साही 'सत्याग्रह युग' से सन्दर्भित करते हैं और उस युग के आदर्श और महत् को विराट नाटकीयता' का युग मानते हैं, और इस युग को एक संतुलन का नाटक' स्वीकार करते है। क्योंकि इसमें भिन्नता के साथ–साथ दार्शनिकता नाटकीयता और नैतिक तथा कल्पनात्मक स्वर्णलोकों का विशिष्ट अनुपात है। ये सभी तत्व आपस में मिलकर यथार्थ और आदर्श, लघु और महत् के सम्बन्ध के प्रति एक विशेष दृष्टि देते हैं। छायावादी कवियों की यथार्थ के प्रति अपनी एक दृष्टि है और "वे यथार्थ को मूलतः अपरिभाषित, निर्माणतुर अविरोधी कच्ची और गीली मिट्टी की तरह देखते हैं जिस पर आदर्श की कोई मुहर लगाई जा सकती है।"[50]

'सत्याग्रह युग' अपराजेय संकल्पता का भी युग रहा है और यही अपराजेय संकल्पता ही जब उसकी विवशता हो गई तो हिन्दी कविता में एक नया मोड़

आया। उत्तर छायावाद की शुरूआत यहीं से होती है। छायावाद की राजनैतिक पृष्ठभूमि में गाँधी थे तो उत्तर छायावाद में 'नेहरू'। 'नेहरू की आत्मकथा' का हवाला देते हुए साही ने इस काल की 'मनोभूमि' को समझने की चेष्टा की है। साही के अनुसार "हिन्दी के तीसरे दशक की ओर ही ध्यान केन्द्रित करें, जहाँ उपरी ढाँचा वैसा ही रहते हुए भी, भीतर से 'मनोभूमि' में परिवर्तन आ गया। भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, दिनकर, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी नरेन्द्र शर्मा आदि ने वह आरम्भ किया जिसे आलोचकों ने छायावाद का दूसरा दौर कहा है। इसे हम छायावाद का शेषांश भी कह सकते हैं या 'नयी कविता' का आरम्भ भी।"[51] समग्रतावादी आलोचक साही ने छायावाद और नयी कविता को अलग–अलग दृश्यों मे देखने के बजाय उसे हिंदी की वर्तमान काव्यधारा की में विकसित होना स्वीकारते हैं।

तीसरे दशक के मानव को 'सहज मानव' के रूप में स्वीकार करते हुए साही का मानना है कि बच्चन की मधुशाला का 'यात्री', भगवतीचरण वर्मा का बीज गुप्त या दिनकर का कभी रस खोजने वाला, कभी अंगारों पर चलने वाला 'आदमी' ये सभी 'सहजतया' 'साधारण मानव' ही है।

गाँधी इरविन समझौते से उपजी भारत में विराटरिक्ततता जिसे नेहरू ने अपनी आत्मकथा में विशेष रूप से सन्दर्भित किया है का सम्बन्ध तीसरे दशक की उत्तर छायावादी कविता के साथ जोड़ते हुए साही का मानना है कि 'विराटरिक्तता' पूरे युग की मनोभूमि रही है। उत्तर छायावादी कवियों ने इस रिक्तता का उत्तर देने का प्रयास किया जिसका परिणाम 'सहज मानव' के रूप में मिलता है। छायावादी मनोभूमि जिसमें आध्यात्मिक, नैतिक कल्पनाशीलता, राजनैतिक तत्वों का समावेश था उत्तरछायावाद में उसे लबादे की तरह उतार फेंका गया और इस युग के कवियों ने एक खास–भाव–भूमिका को निर्मित किया जिसकी पृष्ठभूमि में बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, नवीन, सुभद्रा कुमारी, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, शिवमंगल सिंह सुमन आदि का 'खुमारी और जवानी का काव्य' है। साही का मानना है कि छायावाद से उत्तरछायावाद और उत्तरछायावाद से नयी कविता का सम्बन्ध एक ही धरातल पर निर्मित होता है। "छायावादी कलाकृति मूलतः एक विस्फोट करता हुआ

कला रूप है– जैसे केन्द्रीय अर्थ फूटकर चारों ओर क्रमशः विलीन होता हुआ बिखर रहा हो। तीसरे दशक की कलाकृति उसे विस्फोट की तरह नहीं, बल्कि एक लहर की तरह निर्मित करती है – जिस प्रयास में महादेवी से लेकर बच्चन तक के गीत निर्मित होते हैं। नयी कविता उस तरंग के रूप को एक स्ट्रक्चर' में बदल देती है, जैसे हीरे का क्रिस्टल हो।"[52] इसीलिए लघुमानव की अवधारणा भी छायावाद उत्तर छायावाद, नयी कविता में बदलती रहती है। "छायावाद में उसका रूप लघु की महानता है, तीसरे दशक में लघु की महिमा का है और उसे बाद की कविता में लघु के महत्व का है।"[53]

छायावाद और नयी कविता के सम्बन्ध को आपस में जोडते हुए 'प्रसाद और अज्ञेय' को एक साथ देखते हुए साही का निष्कर्ष है कि "दर्शन और अनुभूति को घुलाने के लिए अज्ञेय वहीं से आरम्भ करते हैं जहाँ प्रसाद ने छोड़ा था। प्रसाद और अज्ञेय की समानता अचरज में डालती है। वही शलीनता, वही शब्दों की चौकसी, वही अभिजात्य और वही कुछ खुला हुआ कुछ डूबा हुआ व्यक्तित्व।"[54]

अज्ञेय को हिन्दी साहित्य में पश्चिम का डाकिया स्वीकार किया जाता रहा है लेकिन साही अज्ञेय को हिन्दी काव्यधारा की ही उपज मानते है। साही का यहाँ तक मानना है कि 'हिन्दी साहित्य का स्रोत जो लोग हिन्दुस्तान के बाहर खासतौर से अंग्रेजी में खेजने की कोशिश करते हैं, वे यदि छोटी मुँह बड़ी बात न लगे तो कहना चाहूँगा, इसी कारण करते हैं कि उसका ज्ञान अंग्रेजी साहित्य के बारे में थोड़ा है।"[55]

साहित्य क्यों ?

साहित्य क्यों ?[56] में साही के '1965 से 1979' के बीच लिखे गये निबन्धों का संकलन है। 'आमुख' में कंचनलता साही लिखती है "इस संग्रह में संकलित लेख 1965 से 1979 के बीच लिखे गये इसमें हम साही जी के चिन्तन की 'छठवां दशक' के बाद की कड़ी प्रस्तुत करते हैं।"[57] इस संग्रह में कुल नौ लेखों को लिया गया है। 'छठवां दशक' से 'साहित्य क्यों?' में साही की दृष्टि हमेशा समाज, परिवेश, लेखकीय व्यक्तित्व के इर्द गिर्द घूमती रही है। मार्क्सवाद का विरोध भी जहाँ–तहाँ बराबर बना हुआ है लेकिन साहित्य की समझ में समाज, परिवेश, व्यक्ति के बीच

एक आन्तरिक लय बनती दिखती है, कुल मिलाकर इस निबन्ध संग्रह में साही की आलोचना दृष्टि समाजशास्त्रीय रही है।

बीसवीं शताब्दी मूलतः यांत्रिकता की शताब्दी रही है। भौतिक यांत्रिक, वैज्ञानिक उन्नति जिसमें मनुष्य का चन्द्रमा पर पहुँचना, साथ ही साथ मनुष्य के जीवन स्तर में उन्नति इस शताब्दी की मुख्य बड़ी उपलब्धि रही है। यांत्रिकता और वैज्ञानिकता के मोहपाश से युक्त जीवन में साहित्य की आवश्यकता क्या है? जैसे प्रश्न उठते हैं जिससे साही बारम्बार टकराते है। 'लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' में साही का कथन है कि "बारम्बार मनुष्य को बदलते हुए देश काल में परिभाषित करना साहित्य की जिम्मेदारी है।"[58] इसलिए यह प्रश्न और महत्वपूर्ण हो जाता है कि क्या वैज्ञानिक, यांत्रिक, कुल मिलाकर भौतिक युग में साहित्य अपनी जिम्मेदारी निभा रहा है? साही बेचैन होकर पूछते हैं "बीसवीं शताब्दी ढल रही है। इसका अवसर आ गया है कि हम थोड़ा तटस्थ होकर देखें क्या इस सारे कुहराम में कोई अर्थ रहा है? इतिहास की इस कभी उत्तेजित कभी हताश गति में क्या कोई ऐसी रूपरेखा रही है, जो याद किये जाने योग्य हो?"[59] सवाल पर दूसरा सवाल साही की प्रश्नवाचक मुद्रा की एक बड़ी विशेषता रही है। साही इसी क्रम में आगे कहते हैं "अलग–अलग दिशाओं में खिंचती हुई यह चरमराती हुई कोशिशें, यह गति और प्रतिगति, बढ़ते हुए पानी के उपर मुँह निकाले रहने की छटपटाहट, मनुष्य को मानवीय बनाने की असंभावना और साथ–साथ व्यापक सृजनशील कर्म में अवसन्न आस्था – साहित्यिक सृजन के ये सारे संदर्भ किस तरह दीखेगें। क्या इतिहास में हमें क्रान्ति के मोह में पडी हुई शताब्दी की तरह याद किया जायेगा, जिस तरह आज हम उन्नीसवी शताब्दी को प्रगति के मोह से आविष्ट शताब्दी के नाम से पुकारते हैं?"[60] साही का मानना है कि जब तक हम इन प्रश्नों से नहीं टकरायेगें साहित्य क्यों? का प्रश्न भी बराबर अनुत्तरित रहेगा।

रचनाकार की व्यैक्तिक रचना धर्मिता को साही बार–बार महत्व देते हैं यही वयैक्तिक रचनाधर्मिता ही रचनाकार के सृजनशीलता के क्षण में उसकी रचनात्मक इमानदारी और रचनात्मक विवशता दोनों को संदर्भित करती है। इसलिए साही का

मानना है कि "मैं जितना भी, सबकी अनुभूति को भी समेटने की कोशिश करता हूँ तो अतंतः उसका निचोड आकर के तो मेरी इस समग्रता में ही आता है न ?"[61]

समाज के उपरी कलेवर में परिवर्तन हेतु राजनीति को कविता से अधिक महत्व देने की बात साही ने तीसरा सप्तक में स्वीकारी थी। साही के लिए यह स्वाभाविक भी था चूँकि राजनीति और साहित्य का अन्तर कालबद्ध होता है इसलिए साह इसे कालावधि में न देखकर समसमायिक सन्दर्भ से देखते हैं। 'हमारे समय में' साही राजनीति और साहित्य के 'काल' में अन्तरस्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "अधिकाशंतः राजनीतिक ढंग के जो कर्मठ होते हैं वे इसी शब्दावली में बात करते हैं कि कल जो हम कर पायेगें उसके नाम पर आज हम जो कुछ भी कर रहे हैं क्षम्य है। ठीक है लेकिन क्या लेखक के लिए यह रास्ता सम्भव है? क्या वह अतीत की ओर या भविष्य की ओर दोनों ओर वर्तमान से नितान्त निरपेक्ष होकर, अपने समय से नितान्त निरपेक्ष पलायन करके भागकर अपनी अर्थवत्ता को खोज सकता है, तलाश कर सकता है।"[62] इस दृष्टि से देखा जाय तो राजनीतिक व्यक्ति के लिए समसामयिक समय केवल साधन का कारक होता है साध्य नहीं। वह छत पर खड़ा होकर सीढ़ी की उपयोगिता को देखता है लेकिन लेखक पहली ही सीढ़ी से अपनी अनुभूति को जोडता है समसामयिक सन्दर्भ से भविष्य को। तात्पर्य यह कि लेखक के लिए काल का फैलाव मुख्य होता है। "इस क्षण जो मैं हूँ जो कल मै आया, कल मैं जाऊँगा, वहीं मैं इस समय हूँ अपनी स्मृति और अपनी अभिलाषा दोनों को लिए हुए। तो मैं अपने को इस प्रकार अपने अनुभव को समेकित करता हूँ, एकत्र करता हूँ, तो जाहिर है कि भविष्य, अतीत और वर्तमान यह सब चाहे मेरे चारों तरफ का समाज हो, मेरे पिता हों कम से कम मैं अपने ढग से यह बात कह सकता हूँ, वे मेरे लिए चाहे स्मृति की शकल बनकर आवे चाहे अभिलाषा की शकल में आयें तो अततः यह समस्त घटनायें मेरे आतंरिक चेतना जाल का अंग ही बन करके आती है।"[63] इसी चेतना में भूत–भविष्य–वर्तमान तीनों एक साथ उपस्थित रहते हैं।

'पुनर्मूल्यांकनः किस आधार पर में साही का मानना है कि अपने पीछे का हर मूल्यांकन पुनर्मूल्यांकन नहीं होता है। पुनर्मूल्यांकन में एक झंकार होती है जिससे

साहित्य के सभी सम्बन्ध झकृत हो उठते हैं और इसीलिए सिर्फ कालान्तर से पुनर्मूल्यांकन नहीं हो सकता।" साही का मानना है कि "मैं आज 1967 में जीवित हूँ अतः जायसी के बारे में जो कुछ 1927 में कहा गया उससे मतभेद व्यक्त करूँ या 1927 में निर्मित समस्त रिश्तों को तोड़ डालूँ सिर्फ इसलिए कि तब से चालीस वर्ष बीत गये। सिर्फ कालान्तर अपने आप में पुनर्मूल्यांकन का प्रमाण नहीं हो सकता।[64]

चूँकि इतिहास से हमें वह दृष्टि मिलती है जिसके आधार पुनर्मूल्यांकन किया जाता है इसलिए इतिहास के साथ हमारा सबन्ध सिर्फ सत्य के आधार पर होना चाहिए। तात्पर्य यह कि 'सत्य' ही पुनर्मूल्यांकन के यथेष्ट है। साही के अनुसार "पुनर्मूल्यांकन की यह अनिवार्य जिम्मेदारी नहीं है कि वह हर पुराने दृष्टिकोण का खण्डन करे। वस्तुतः नये पुराने की जगह पूनर्मूल्यांकन पुराने–पुराने की ओर जाकर अपने सम्बन्ध बना सकता है। लेकिन समूचे इतिहास के साथ उसके सम्बन्ध की परिभाषा में सत्य की व्यजंना बराबर रहेगी।"[65]

'धर्म निरपेक्षता की खोज में हिन्दी साहित्य और उसके पड़ोस पर एक दृष्टि'[66] में साही की, लम्बी बहस अनवरत चलती रहती है। साही धर्म निरपेक्षता को दो भागों में बांटकर कर देखते हैं–समान दूरी वाली और समनिरर्थकता निरर्थक वाली धर्मनिरपेक्षता साही ने समान दूरी वाली धर्म निरपेक्षता और समान निरर्थकता वाली धर्मनिरपेक्षता दोनों को पर्याप्त महत्व देते हुए और अपने अनुभव से मध्यकाल के दबाव को आधुनिक संदर्भ से देख है। इसी काल के फैलाव में ही साही को कालिदास और फिरदौसी मध्यकाल में सम्भावना की तरह झलकते हैं "और बीच के मैदान में हिंदी भाषी उत्तर भारत का काव्य जन्म लेता है।"[67]

भाषा का महत्व सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है। मध्यकाल से ही भारत में दो सांस्कृतिक हिन्दू–मुस्लिम के बीच तनाव बराबर बना रहा है। इस तनाव को दूर करने में साही के लिए लोकभाषा का महत्व मध्यकाल में इस दृष्टि से है कि लोकभाषा ही आधार बिन्दु हिन्दू, मुस्लिम की एकता के लिए। साही के अनुसार कुछ ऐसा है जिससे हिन्दू मुस्लिम के बीच खाई पट जाती है। यही सब मिलकर हिंदी भाषा का मिजाज बनाती हैं और इसी वजह से भक्तिकाल पूरा का

पूरा मिजाज बहुधर्मी हो जाता है। मध्यकाल के बहुधर्मी समाज में धर्म से ज्यादा महत्व 'मानुष' की स्वतन्त्रता का रहा है। बहुधर्मी समाज में एक तीसरी धर्म निरपेक्षता भी सभव है। साही कहते हैं कि "कबीरदास को हम क्या कहें? धर्मांध या धर्म निरपेक्ष? इस तरह पूछने पर फौरन लगता है कि सिर्फ दो चौखट्टे काफी नहीं है। और भी होने चाहिए।"[68]

'जायसी' का महत्व इसी सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से प्रतिपादित करते हुए साही का मानना है कि "जायसी कबीर से भिन्न हैं। वह अपने इस्लाम में दृढ है। लेकिन अभिव्यक्ति के लिए लोकभाषा को चुनते हैं। यानी फारसी से इस्लाम का अनावश्यक रिश्ता तोड़ते हैं।"[69] सांस्कृतिक तत्वो की एकता की खोज जायसी के लिए चुनौती थी फिरदौसी की तरह। ईरानी साहित्यकार फिरदौसी की इस्लामधर्म मे अस्था थी लेकिन उसमें राष्ट्रीय चेतना धर्म से अधिक थी। जायसी में भी यही तत्व है। साही के लिए फिरदौसी के शाहनामे का महत्व दूर से झलकने वाली मोहिनी चंचल लोकगाथा से अधिक है। इसकी महत्ता इस सन्दर्भ में और बढ़ जाती है कि इसमें धर्मान्धता के विरूद्ध बहुत पहले धर्म निरपेक्ष समन्वय को राष्ट्रीयता की थरथराहट के साथ प्रस्तुत करने की कोशिश की गई थी। यही स्थिति जायसी की भी है इसलिए साही को जायसी मध्यकाल में श्रेष्ठ लगते हैं।

हिंदी आलोचना में रीति काल को 'अन्धकार युग' के नाम से जाना जाता है। लेकिन साही इस काल को 'भाषा' की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हैं। क्योंकि "ब्रजभाषा कवियों ने सबसे बड़ा कमाल यह किया कि जब एक ओर राजनीतिक एकता टुकड़े–टुकड़े हो रही थी उन्होंने आज जो हिन्दी भाषी क्षेत्र कहलाता है, इस पूरे खित्ते के लिए बड़े मनोयोग से एक सर्वमान्य भाषायी माध्यम निर्मित कर डाला।"[70]

तीसरा सप्तक का पच्चीसवाँशील है अवज्ञा परमोधर्मः।[71] इतिहास और परम्परा का सम्बन्ध इस सूत्र से जुड़ता है।

इतिहास की गति से परम्परायें टूटती है अगर नहीं टूटती तो बदल तो अवश्य जाती ही हैं। 'परम्परा और इतिहास' में साही का मानना है कि "जैसे–जैसे

परिवर्तन की गति तेज होती जाती है, परम्परावाद या तो कमजोर होता है, या अपनी शक्ल बदल लेता है।"[72] इसी क्रम में विचार करते हुए साही परम्परा और परम्पराओं में तात्त्विक अन्तर मानते हैं। साही के अनुसार "इतिहास में हमें परम्पराओं के दर्शन होते हैं और उनका मतलब भी समझ में आता है। लेकिन यह एक वचन 'परम्परा' तत्ववादी दर्शन की उपज है। अगर सबको आत्मसात् करने वाली परम्परा जैसी कोई चीज है भी तो वह काल–प्रवाह या ऐतिहासिक निस्तरता का ही दूसरा नाम होगी।"[73]

साही ने बार–बार युगीन पृष्ठभूमि को उसके राजनीतिक सन्दर्भ से देखता है, परम्पराओं के ही संदर्भ से साही भारत–पाक के बॅटवारे पर विचार करते हुए कहते हैं "भारत–पाकिस्तान बॅटवारे के पीछे भी परम्पराओं की जकड़ बन्दी है, दिमागी तौर पर सर्वथा परम्परायुक्त, सृजनशील आत्म विश्वासी संवेदा के विकसित न हो पाने की विफलता है।"[74] यही नहीं बल्कि "भारत–पाकिस्तान विभाजन धार्मिक विफलता नहीं है, गहरे स्तर पर सांस्कृतिक विफलता है। जिन्ना से लेकर अयूब खॉ तक का नेतृत्व इस्लाम धर्म के बूते पर नहीं है (क्यों कि वे धार्मिक नेता नहीं है) बल्कि मुस्लिम संस्कृति के नाम पर है।"[75] इस दृष्टि से साही समाजवादी आलोचक की मुद्रा में अधिक लगते हैं। "भारतीयता के साथ–साथ मनुष्य की नाभिकीय चेतना को केन्द्र में रखकर साही एक लम्बी बहस पर सबको आंमत्रित करते है। एक लम्बी बेचैनी सी लगती है साही के चिन्तन में।

लोकतन्त्र की कसौटियाँ

'लोकतन्त्र की कसौटियाँ'[76] में साही के राजनैतिक लेखों का संग्रह है। साही के व्यक्तित्व के दो पहलू हैं। एक तरफ वे साहित्यकार, अध्यापक हैं तो दूसरी तरफ वे सोशलिस्ट पार्टी के नेता। कालीन बुनकरों को लेकर संघर्ष करने वाले उनके रहनुमा। 'साहित्य और राजनीति' जैसे दो विपरीत ध्रुवों को आपस में मिलाने का काम साही का है। इसमें टकराहट होती है तो उसका प्रभाव विचार के स्तर होता

है जिससे साहित्य की विचार भूमि और अधिक उर्वर ही होती है उसके बदले राजनीति का क्षेत्र उसर हो जाय तो हो जाय कोई फर्क नहीं पडता।

भूमिका में साही की मनोवृत्ति का उद्घाटन करते हुए प्रसिद्ध समाजवादी विचारक 'मधुलिमयें' कहते हैं, "साही जी की दृष्टि केवल राजनीतिक नहीं थी। राजनीति को वे मौलिक परिवर्तन का एक अंग मात्र मानते थे। लेकिन साही जी की ऐसी मान्यता थी कि समाज परिवर्तन के सास्कृतिक तथा साहित्यिक आयाम भी महत्वपूर्ण हैं।"[77] भूमिका में ही मधुलिमये कहते है कि 'एक बार साही जी से पूछा गया कि राजनीतिक कार्यकर्त्ता तथा मजदूर नेता होने में और शुद्ध बौद्धिक होने में क्या आप कोई अन्तर्विरोध नही देखते ? तब साही जी ने कहाः नहीं ! सारी बौद्धिक जिज्ञासा का तान यहीं टूटता है कि वैचारिक और व्यावहारिक आचरण मे सामजस्य कैसे स्थापित किया जाये। हर जागरूक बुद्धिजीवी को हमेशा इस खतरे से बचना चाहिए कि वह हाथी के दॉत वाली मीनारो का जीवन बनकर न रह जाये। उसके लिए यह जरुरी है कि वह एक व्यावहारिक आचरण का निर्वाह करके कथनी और करनी में संतुलन स्थापित करे।"[78]

साही ने कम से कम अपने को इसी संतुलन की पृष्ठभूमि में तैयार किया। उनके विचारों में कहीं भी अतिवादिता नहीं मिलती। अतिवादिता इस दृष्टि से की वे जब भी साहित्य की बात कर रहे होते हैं, तब भी राजनीति के चालू मुहावरे – सब चलता है – से अपने को दूर रखते हैं। लगातार बहसों, प्रश्नों पर प्रश्नों की एक लम्बी झडी भले ही पाठकों को बौद्धिक आतंक से डराती हो लेकिन कहीं भी साही नक्सलवादी कम्युनिस्ट की भूमिका में नहीं मिलते हैं। मिलते है तो सिर्फ गॉधीवादी विचारक की भूमिका में।

वर्धमान और पतनशील

'वर्धमान और पतनशील'[79] निबन्ध संग्रह में साही के उन निबन्धों का संग्रह है जो पहले संग्रहों में नही शामिल थे। कंचनलता साही के अनुसार "साही जी के वे लेख जो समय–समय पर पत्रिकाओं आदि में प्रकाशित हुए हैं लेकिन साही जी के

एकल संकलनों 'छठवांदशक' 'साहित्य क्यों?' और लोक तन्त्र की कसौटियों में शामिल नहीं है"।[80] कुल पन्द्रह लेखों का यह संग्रह है।

'नई समीक्षा' के आलोचक साही ने 'भाषा' के सम्बन्ध में इस निबन्ध संग्रह के कई निबन्धों में विचार व्यक्त किया है। 'भाषा' को लेकर साही का चिन्तन शुरू से ही चलता रहा है। छठवांदशक के 'अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग और अभिव्यंजना की कुछ समस्याएँ' की अगली कड़ी में साही ने इन निबन्धों में विचार व्यक्त किया है।

नई कविता के दौर में हिन्दी में अंग्रेजी शब्दों का चलन बढ़ने लगा था। कुछ लोग इसे पश्चिमी प्रभाव के रूप में ग्रहण कर रहे थे। वैसे अंग्रेजी शब्दों का चलन हिन्दी में 'नई कविता' के दौर में ही हो रहा था यह सच नहीं है लेकिन रूढि का सामना नई कविता' को ही करना पड़ा। दरअसल हमेशा नई चीज को आधुनिक हिन्दी में पश्चिमी प्रभाव से ग्रस्त मानने की परिपाटी रही है। साही जी के अनुसार "जब जब हिन्दी कविता में नया दौर आया, पुरानी कविता के अभ्यस्त लोगों ने आरोप लगाया कि पश्चिम का प्रभाव घुसता आ रहा है। भारतेन्दु से लेकर अब तक यही हुआ।"[81]

हिन्दी कविता की भाषा में पिछले सौ वर्षों में तीन महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। "एक तो तब जब कविता की भाषा ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली बनी। दूसरे तब जब इस भाषा मे छायावाद ने प्रवेश किया और काव्यभाषा अधिकाधिक संस्कृतगर्भित होती गई। तीसरे आज से लगभग तीस–पैतीस बरस पहले जब छायावाद की काव्यभाषा से असंतुष्ट होकर कवियों ने नये प्रयोग शुरू किए और एक नये ठेठपन का जन्म हुआ।"[82]

हिन्दू संस्कृति की तरह हिन्दी भाषा की सबसे बडी विशेषता यह रही है कि बाहर से आये बहुत से शब्द उसमें पच गये। लेकिन हिन्दी कविता में अंग्रेजी के बहुत से शब्द पच नहीं पाये जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी भाषा द्विभाजिकता का शिकार हो गयी।

द्विभाषी होने से भाषा की सृजनात्मकता प्रभावित होती हैं। क्योंकि "इस द्विभाषी वातावरण का असर हमारी बोल–चाल की भाषा पर ज्यादा व्यापक पडता है। आज जो हम हिन्दी बोलत हैं उसमें अंगेजी शब्दों की इतनी भरमार होती है कि उसे हिन्दी न कहकर 'हिंग्रेजी 'कहना ज्यादा ठीक होगा। एक तरह से हिन्दी अभी अधूरी ही है। हिन्दी कौन बोलता है? जो लोग अंगेजी नहीं जानते लोक बोलियां बोलते हैं, जो खडी बोली बोलते है उनमें से अधिकांश हिंग्रेजी बोलते हैं।"[83]

शब्दों का अति प्रयोग कभी–कभी काव्यधारा के रूढ़ि में परवर्तित हो जाता है। इसीलिए अज्ञेय ने नारा दिया कि हमें शब्दों के चयन में नयापन लाना चाहिए क्योंकि बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है। अवज्ञा परमोधर्म के सिद्धान्त पर साही का मानना है कि 'ऐसे बहुत से शब्द है' जो बहुत पहले से ही काव्यभाषा में प्रयुक्त हो रहे है क्या वे घिस गये और हमारे पास ऐसा कौन सा नपना है जिससे नापा जा सके कि ये शब्द बासी, पुराने है और ये शब्द नये।' चूँकि भाषा का सृजनात्मकता के साथ अनुस्यूत सम्बन्ध होता है इसलिए जो साहित्यकार समाज से जीवन्त सम्पर्क नहीं बना पाता है उसकी भाषा चाहे कितना ही नयी क्यों न हो बासी हो जाता है। बहुत से शब्द है जो जन्मते ही मर गये आरिवर ऐसा क्यों हुआ। क्योंकि इनकी जीवन्तता समाज से जुडी नही थी। धर्मवीर भारती की अनछुई, अनकही, अनसुनी वाली शब्दावली क्या जन्मते ही समाप्त नहीं हो गयी।"[84]

इसलिए 'काव्यभाषा' के प्रतिमान के लिए हमें भक्तिकाल की तरह अपनी सम्भावना तलाशनी चाहिए "इस नये स्तर के लिए हमे तुलसीदास और सूरदास से बहुत कुछ सीख सकते हैं। काव्यभाषा की केन्द्रिय गति हमें वही मिलेगी।"[85] भाषा का महत्व साहित्य के लिए सबसे महत्व का विषय होता है। भाषा अगर अवमूल्यित होती है तो इसका मतलब साहित्य भी अवमूल्यित हो रहा है। क्योंकि "भाषा अपने आप में अर्थवत्ता रखती है यह स्वयं हमारी अनुभूति को उजागर करती है हमको अर्थवान बनाती है।"[86]

'नयी समीक्षा' के आलोचक होने के नाते साही के चिंतन में काव्यभाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। 'वर्धमान और पतनशील' में साही ने एक नये भाव–बोध से

काव्यभाषा पर विचार किया। साही का मानना है कि जनता के बीच वैचारिक और भावात्मक टकराहट से नई भाषा का जन्म होता है। कोशों में गढ़ी गयी भाषा की मृत्यु उसके जीवन्त सम्पर्क से वंचित हो जाने के कारण होती है। शब्दों में नया अर्थ रचनाकार भरता है न कि कोशकार। हिन्दी में बढ़ते अंग्रेजी शब्दों को लेकर साही इसे एक तरह की आचलिकता के स्वर में पहचानते हैं और इसे मुख्य धारा से कटा हुआ मानते हैं। "ये प्रयोग एक तरह के आंचलिक प्रयोग हैं या अक्सर हूबहू–यथार्थ चित्रण की चिन्ता से उपजते हैं। कुल मिलाकर हूबहू–यथार्थ चित्रण अथवा आंचलिकता किसी साहित्य की मुख्यधारा नहीं हो सकती।"[87]

साही ने आंचलिकता को बृहत्तर सन्दर्भों से देखा है। उसे सिर्फ सामाजिक या भौगोलिक अंचल के रूप में नहीं। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' को इतिहास के अंचल के रूप में स्वीकार किया तो नदी के द्वीप को महानगरीय आंचलिकता के रूप में। साही के अनुसार "आंचलिकता दृष्टि और वर्णनशैली में, शब्दावली के आपसी रिश्ते में निहित है।"[88]

नदी के द्वीप को आंचलिक मानने का कारण इसलिए है कि "आंचलिकता सिर्फ खेतों, खलिहानों, कस्बों या पहाड़ी इलाकों में ही हो ऐसा नहीं है। एक तरह की आंचलिकता हमें महानगरों में, कनाट–प्लेस, चौरंगी–चौपाटी में, कहवाघरों, होटलों क्लबों में भी प्राप्त होती है। खेत–खलिहानी, कस्बाई, पहाड़ी आंचलिकता अपने साथ नाना प्रकार की ग्राम्य, कस्बाई, पहाड़ी शब्दावली लाती है। जिसे वह कथा साहित्य में या लोक गीतों का समा बॉधने वाली 'आंचलिकता' कविताओं मे उँड़ेल कर चुक जाती है।..............महानगरीय आंचलिकता, या आजकल की उदीयमान उक्ति हिन्दुस्तानी–अंग्रेज समुदायों की आंचलिकता अपने साथ अंग्रेजी शब्द, मुहावरे और वाक्य लाती है। इसका महत्व भी खेत खलिहानी–कस्बाई–पहाड़ी आंचलिकता से अधिक नहीं है, या शायद उससे भी कम है, क्योंकि इन अंग्रेजी प्रयोगों के मुख्य धारा में खप जाने की गुंजायश और भी कम है।"[89]

आंचलिकता के ही सन्दर्भ में हिन्दी कथा क्षेत्र में एक विवाद चला गाँव बनाम महानगर। 'अलग–अलग वैतरणी' की समीक्षा करते हुए साही ने कथा आलोचक के

लिए एक प्रतिमान की स्थापना की है। साही का मानना है कि "कथाकार होने का दावा करने वाले के लिए, उपन्यास की कसौटी पर चढ़ना जरूरी है। खासतौर से तब जब दावा लम्बे, चौड़े इन्कलाब से जुडा हुआ हो। गम्भीर आलोचना में उपन्यास के मुकाबले में कहानी का अध्याय निश्चय ही छोटा होगा।"[90]

'अलग-अलग वैतरणी' को निर्मल वर्मा के 'वे दिन', राही के 'आधा गॉव', नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' के साथ रखकर साही का निष्कर्ष है कि "बीसवीं सदी को खण्ड-खण्ड करके देखना अपने को एक दिमागी भंवर में डाल देना है। बीसवीं सदी के कमल, कीचड से अलग नहीं किये जा सकते। अब इस दृष्टि भ्रम का अन्त होना चाहिए, क्योंकि यह यूरोप की उन्नीसवीं सदी की दिमागी विरासत से उपजी हुई चीज है। करैता मैनहाटन से कम बीसवीं सदी की उपज नहीं है।"[91]

लेखक की सृजनात्मकता के सन्दर्भ में साही का मानना है कि "हमें, यह स्वीकार करके चलना होगा कि आज के मानवीय महानाटक के लिए और उसका साक्षात्कार करने वाले लेखक के लिए करैता जैसे लाखों गांवों को भूल जाना, या उसका कोई अनुभव ही न होना, एक बडा सृजनात्मक अभाव है।"[92]

प्रेमचन्द के 'गोदान' में साही को ऐसी ही 'सृजनात्मकता' की झलक मिलती है। साही ने प्रेमचन्द के 'गोदान' को उनके अन्य उपन्यासों से श्रेष्ठ इसलिए माना कि 'गोदान' में प्रेमचन्द ने 'यथार्थवाद' का दृष्टि के रूप में उपयोग किया है। "प्रेमचन्द ने अपने अन्य उपन्यासों में यथार्थवाद को कल्पित आदर्श या सुधार के रूप में देखा लेकिन 'गोदान' का यथार्थवाद उपयोग की वस्तु नहीं है, वह एक दृष्टि बन जाता है, जिसके भीतर मानव का केन्द्रीय प्रश्न उठता हुआ दिखता है। इसीलिए 'गोदान' अन्य उपन्यासों से भिन्न भी है, श्रेष्ठतर भी।"[93]

सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में उर्दू-हिन्दी का विवाद एक समस्या के रूप में है। हिन्दी-उर्दू का विवाद बीसवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध का सबसे उत्तेजनापूर्ण विवाद रहा है। दरअसल समस्या तब खड़ी हुई जब हिन्दी हिन्दू का उर्दू मुसलमान होने का पयार्य हो गयी। 'हिन्दी उर्दू को पास लाने की कोशिश' में साही ने इस विवाद को केन्द्र में रखकर उसके सभी स्थितियों का आंकलन करके यह निष्कर्ष निकाला

है कि "सबसे दुर्भाग्यपूर्ण और बेतुकी बात जो इस विवाद में हुई वह हिन्दी और उर्दू की पहचान का हिन्दु मुस्लिम सम्प्रदायों के साथ नत्थी हो जाना था।"[94]

'हिन्दी–उर्दू' की समस्या को समाधान के लिए साही ने पाँच सूत्रीय विचार सुझाया है।"[95]

(क) उर्दू के महान साहित्यकारों को वैसे ही साहित्य के इतिहास का अंग बनाना चाहिए, जैसे ब्रजभाषा के महान लेखकों को।

(ख) उर्दू को हमारी सांस्कृतिक विरासत का वैसे ही भाग बन जाना चाहिए जैसे ब्रजभाषा।

(ग) उर्दू को वैसे ही सूख जाने देना चाहिए जैसे ब्रजभाषा।

(घ) हिंदी माध्यम का चयन साहित्यिक कारणों से होना चाहिए न कि भावुकता के आधार पर।

(ङ) हिंदी माध्यम का चयन साहित्यिक कारणों से होना चाहिए न साहित्यिक बचकाने पन का चिन्ह समझकर उससे बचना चाहिए।

साहित्य और साहित्यकार का दायित्व

'वर्धमान और पतनशील' में साही ने कहा है कि "साहित्य का विस्तृत अध्ययन आदमी की आँख खोलता है। कभी–कभी हमको ऐसा अभास होता है कि जिस कर्म को हमने बहुत न्याय और सत्य का साक्षी देकर किया था, उसके कारण जिनकी हानि हुई वे सचमुच में मनुष्य थे, और उनके मन में भी न्याय और सत्य की वैसी ही धाराणाएँ थीं। तब हम तिलमिला जाते हैं – लेकिन जाने अनजाने मनुष्य की परिभाषा हमारे लिए बढ़ जाती है। जब–जब हम मनुष्य की परिभाषा बढ़ाते है, हमारा कुटुम्ब विस्तृत होता जाता है साहित्य का एक बहुत जरूरी काम यह है कि मनुष्य और उसकी अनुभूतियों की इस परिपाटी ग्रस्त परिभाषा को बराबर विस्तृत करता चले।"[97] 'लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' में साही लिख चुके

थे 'बारम्बार मनुष्य को बदलते हुए देशकाल में परिभाषित करना साहित्य की जिम्मेदारी है।' अपने उपर्युक्त कथनों को विस्तृत करते हुए 'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व' – जो साही के अनुसार मूलतः एक ही चीज है–साही एक नई स्थापना देते है। साहित्य और साहित्यकार के दायित्व के लिए साही चार चेतनाओं मे देखते हैं।" 1. सामाजिक चेतना 2. पारिवारिक चेतना 3. मानवीय चेतना 4. ब्रह्माण्ड व्यापी चेतना और इन्ही चारों स्तरो पर एक साथ लेखक का दायित्व बनता है।"[99]

इन चार स्तरों में प्रभाव का क्रम कभी किसी का रहता है, कभी किसी का लेकिन चारों स्तरों का प्रभाव हमेशा होता रहता है। अगर इनमें से किसी एक ही चेतना का सम्बन्ध रहा तो उसकी परिणति भिन्न हो जायेगी – साही के अनुसार साहित्यकार "केवल ब्रह्माण्ड चेतना पकड़ेगा तो बाबा लोगों का चेला हो जायेगा। केवल प्रेम वाली पकड़ेगा तो सिनेमा का गीतकार हो जायेगा। अगर केवल समाज चेतना पकड़ेगा तो किसी न किसी पार्टी का समर्थक हो जायेगा।"[99] चूँकि साहित्यकार का दायित्व 'मनुष्य' को उसके सम्पूर्णता में तराशना होता है इसलिए चारों चेतनाओं से साहित्यकार को युक्त होना चाहिए।

साही ने उपर्युक्त स्थापना करके लेखक को एक साथ कई मोर्चे पर लड़ने वाला सिपाही बताया। चूँकि लेखक का दायित्व समाज के अन्य वर्गों से अधिक महत्व का है और अन्य वर्गों की अपनी सीमा रेखा होती है, इसलिए लेखक का यह दायित्व है कि वह गंभीरता से अपने कत्तर्व्य का पालन करे क्योंकि लेखक ही है जो "परिवर्तन को आवश्यक गम्भीरता देता है और समाज के अन्तिम लक्ष्यों के साथ निरन्तर हमारे परिवर्तन की गति को जोड़ता है।"[100] कमला प्रसाद के अनुसार, "विजयदेव नारायण साही आलोचक के रूप में जीवन भर यह समझने की कोशिश करते रहे कि साहित्य का उद्देश्य क्या हैं ? वे चाहे 'साहित्य क्यों? ' लघुमानव के बहाने कविता पर एक बहस' 'सत्ता और संस्कृति', 'जनवादी साहित्य' में से कोई निबंध लिख रहे हों या 'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व' विषय पर व्याख्यान दे रहे हों वे साहिंत्य से अपनी अपेक्षा ही खोजते रहे। लिखते या बोलते हुए वे संबोधक कम, खोजी ज्यादा लगते हैं।[101]

जायसी

साही की खोजी प्रवृत्ति उन्हें मध्यकाल के कवि 'जायसी' तक ले जाती है। 'जायसी' साही की आलोचनात्मक प्रतिभा का सबसे बड़ा देय है न सिर्फ साहित्यिक मनिषियों के लिए, पाठकों के लिए बल्कि काल से परे जाकर 'काल' में अन्वेषण करने वालों के लिए। परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार "इस पूरे आलोचनात्मक संघर्ष की एक अधिक सार्थक फलश्रुति है उनकी कृति 'जायसी' जिसे हम 'एक मध्यकालीन कवि का आधुनिक कवि के रूप में आविष्कार' कह सकते हैं।"[102]

'धर्म निरपेक्षता की खोज में' साही जायसी के बारे में लिखे चुके थे कि "जायसी कबीर से भिन्न हैं। वह अपने इस्लाम में दृढ हैं। लेकिन अभिव्यक्ति के लिए लोकभाषा को चुनते हैं। यानी फारसी से इस्लाम का अनावश्यक रिश्ता तोड़ते हैं। पद्मावत में वह मानवीय प्रेम के उस रसायन का आवष्किार करते हैं जो मनुष्य को मुट्ठी भर धूल से उठाकर 'बैंकुंठी' बनाता है।"[103]

'जायसी' की खोज में साही का यह प्रस्थान बिन्दु है। अपने बेबाक तीक्ष्ण, शोधपरक दृष्टि से साही ने न सिर्फ 'पद्मावत' को परखा, बल्कि 'जायसी' और 'पद्मावत' के उपर हिन्दी आलोचना की जो विचारधारात्मक धूल जमी थी उसे भी साफ किया।

साही ने आलोचना की चली आती परिपाटी से अलग हटकर नये स्वर से 'जायसी' और 'पद्मावत' को देखा है। जायसी के ही रूपक में साही कहते है "बार–बार दूर वन खंड से आकर मैं इस जायसी रूपी कमल की वास लेता हूँ। हर बार एक नई सुगंध मिलती है।'[104]

साही ने 'जायसी' में कुछ नई मौलिक स्थापनायें की हैं। जैसे पद्मावत सूफी काव्य नहीं है, पद्मावत की कथा को जायसी की मौलिक उद्भावना के रूप में स्वीकार करना–इतिहास परक मानने से इन्कार करना। जायसी को हिन्दी का पहला विधिवत कवि मानना। पद्मावत को भारत का पहला ऐसा ग्रन्थ मानना जो यूनानी ट्रेजडी के काफी निकट है।

दिल्ली विश्वविद्यालय मे 'रामचन्द्र शुक्ल और जायसी' विषय पर बोलते हुए साही ने रामचन्द्र शुक्ल की जायसी सम्बन्धी व्याख्याओं की विशेषता बताते हुए कहा कि "अकेले ग्रियसर्न के या पंडित सुधाकर द्विवेदी के बूते का काम नहीं था कि जायसी को लगभग गुमनामी से उठाकर हिंदी के शीर्ष पर पहुँच देते। यह कार्य शुक्लजी ने किया।"[105] शुक्ल जी के इसी काम को आगे–बढ़ाया है विजय देव नारायण साही ने। यह अलग बात है कि साही के निष्कर्ष शुक्लजी से भिन्न जान पडते हैं।

साही ने 'पद्मावत' को सूफी ग्रन्थ नहीं माना। साही जायसी के 'कविरूप' पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। साही ने साहित्य के आस्वादन के लिए किसी विचारधारा से सहमत होना आवश्यक नहीं माना है। पद्मावत के कथानक में 'सिंह–ललोक' तथा 'इतिहास लोक' के द्वन्द्वपरक एवं परस्पर पूरक सम्बन्धों को प्रदर्शित कर साही ने एक नई व्याख्या की, "सतह पर इतिहास लोक अपनी बाहरी दुनिया में पर्याप्त है और सिंहल लोक अपनी आन्तरिकता में स्वतः संपूर्ण है। लेकिन तत्वतः वे अलग नहीं रह सकते। वे एक दूसरे को बराबर बेधते रहते हैं और एक गहरी ट्रेजडी को जन्म देते है।"[106]

साही ने अपने विवेचन से हिंदी आलोचना के उस कुहरे को साफ किया जिसे रामचन्द्र शुक्ल, माताप्रसाद गुप्त, परशुराम चतुर्वेदी, वासुदेव शरण अग्रवाल नहीं कर पाये थे। जायसी को हिन्दी का पहला विधिवत कवि मानने के पीछे साही का तर्क है "लगता है कि समूची अवधीभाषा कविता ही है जो जायसी की कलम से अपना स्वरूप ग्रहण करती चलती है। जब भाषा में इस तरह की अपनी स्वतः स्फूर्ति गति दिखे तो हम बेखटके समझ सकते हैं कि हम एक बड़े कवि के सामने उपस्थित हैं।"[107]

जायसी में शब्दों की अद्भूत अनेकार्थता और खंडित संदर्भों को घुला–मिलाकर एकाकार करने की अद्भूत अपार क्षमता है। ऐसा ही साही को फिरदौसी में भी नजर आता है। फिरदौसी ने 'शाहनामा' में अरबी शब्दों का बहिष्कार कर फारसी भाषा के पुराने और प्रचलित शब्दों को नवीन 'धार्मिक –

सांस्कृतिक संदर्भों में प्रयुक्त किया जिससे ईरानी समाज के साथ–साथ, फारसी कविता की सृजनात्मक मे वृद्धि हुई। "अवधी के ठेठ शब्दों के धड़ल्ले प्रयोग से जायसी एक जातीय सांस्कृतिक उन्मेष पैदा करते हैं जो संत कवियों या मुल्ला दाऊद, मंझन या कुतुबन जैसे प्रेममार्गी कवियों द्वारा सम्भव नहीं हो सका था।[108] जायसी की विशिष्टता इसी में है कि उन्होंने धार्मिक, सांस्कृतिक शब्दावली को अवधी की महीन ठेठ भाषा में घुला–मिलाकर पचा लिया।

साही कहते हैं कि "जायसी का कहना है कि दूर–दूर से लोग कीर्ति सुनकर उनकी कविता की सुगन्ध लेते हैं, लेकिन पास के मेढक उनकी प्रतिमा से बेखबर हैं। ये पास के मेढक कौन हैं ? अगर जायसी ने पद्मावत जायस में लिखी तो ये मेढ़क जायस वाले हैं।"[109]

भँवर आई बनखंड हुति लेहि कँवल कै बास ।
दादुर बास न परवहिं भलेहिं जे आछाहिं पास।।

जायसी के ऐसे तमाम कथनों को उद्घृत करके साही ने 'निरमलभावों से भरी कविता' को सही अर्थों में समझने समझाने का प्रयास किया है। दरअसल साही की मूल चिंता यही थी कि 'पद्मावत' को तसव्वुफ के घेरे से मुक्त रखा जाय। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में ही प्रसिद्ध लेकिन मध्यकाल ही नहीं बल्कि रीतिकाल बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी तक जायसी का कोई जिक्र नहीं। 'जायसी के बारे में ऐसी दहाड़ती चुप्पी क्यों? इसीलिए साही का मानना है कि "हम अच्छी तरह उधेड़ बुन करके अपने को पूर्वग्रहों के जाल से मुक्त करें, ताकि जायसी को समूचे उनके सम्पूर्ण सृजनात्मक कृतित्व के साथ देख सकें। हमारी प्रतिबद्धता तसव्वुफ के प्रति नहीं है। हमारी प्रतिबद्धता जायसी की कविता के प्रति है।"[110]

माता प्रसाद गुप्त के द्वारा 'तन चितउर मन राजा कीन्हाँ' छन्द को प्रक्षिप्त सिद्ध करने के पहले हिंदी आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर परशुराम चतुर्वेदी तक विभिन्न विश्लेषकों ने 'पद्मावत' को रूपक या अन्योक्ति परक काव्य माना। माता प्रसाद गुप्त ने प्रबल प्रमाणों के आधार पर उपर्युक्त पंक्तियों को क्षेपक सिद्ध कर दिया। अपनी भूमिका में गुप्त जी ने लिखा है कि "इस छंद को प्रमाणिक मान लेने के कारण जायसी के रूपक निर्वाह के विषय में शुक्लजी ने और उनके

पीछे के जायसी के समस्त आलोचकों ने कितना बड़ा वितंडावाद खड़ा किया है।" उपर्युक्त पंक्तियों को संदर्भित करते हुए साही कहते हैं "लेकिन डा0 गुप्त ने एक कदम और आगे बढकर यह प्रश्न नहीं पूछा कि यदि रूपक कथित अथवा कथित, धराशायी हो जाता है तो पद्मावत को सूफी मत का ग्रन्थ मानने का क्या औचित्य रह जात है?"[111] गुप्तजी ने भले ही यह प्रश्न नहीं पूछा, लेकिन साही ने अपने विवेक से, हिंदी आलोचना के जायसी सम्बन्धी वितंडावाद को निरसित करके, जायसी के पद्मावत में एक विशेष जीवन दृष्टि के साथ सामाजिक सांस्कृतिक समन्वय को प्रस्तुत किया।

साही का मानना है कि जायसी एक आत्मसजग, आत्मविश्वासी साथ ही अत्यन्त संवेदनशील व्यक्ति थे। जायसी के अनुभूति में वह गहराई थी, जिससे सृजनशीलता और मनुष्यता का सम्बन्ध बनता है। साही ने पद्मावत के आधार पर बार–बार जायसी को कवि मानने का ही सुझाव रखा। क्योंकि जायसी और पद्मावत को सूफी घेरे में रखने से न तो जायसी का मूल्यांकन हो पाता है और न ही पद्मावत का और न वह सांस्कृतिक–सामाजिक रूप ही उभर पाता है जो कि जायसी का अभिप्रेत था।

साही ने जायसी के व्यक्तित्व और अंतरगंता की खोज में जायसी के अन्तःसाक्ष्य का सहारा लिया है। जायसी के चार मित्रों और मोह भंगिनि प्रेमिका को लेकर साही ने जायसी के 'कवि' रूप को रेखांकित किया है। साही का मानना है कि जायसी का कवि स्वभाव एक बौद्धिक कवि का है – सूफी सन्त या बैरागी बाबा का नहीं। अगर जायसी सूफी हैं तो डॉ० लोहिया के शब्दों में कुजात सूफी हैं।

जायसी के कृतित्व और रचनात्मकता को प्रदर्शित करने के लिए साही को 'पद्मावत' के उपसंहार का यह स्थल महत्वपूर्ण लगता हैं :–

"मुहम्मद यहि कवि जोरि सुनावाः सुना सो प्रेम पीर गा पावा
जोरी लाइ रकत कै लेई गाढ़ी प्रीति नैने जल भेई
औ मन जानि कबित अस कीन्हाः मकु यह रहै जगत मंह चीन्हा

......आदि

साही को इन पंक्तियों का अर्थ चंचल आवर्तन की तरह लगता है और "लगता है जैसे सारी कथा, सारी घटनाएँ सारे चरित्र–सब के सब अपनी भूमिका निभाकर विलीन हो गए और हमारे सामने सिर्फ जायसी का उघरा हुआ मर्म, बिना किसी अन्तर्पट के उपस्थित हो गया। हमारा काम है कि इस मर्म का निर्बाध और सम्पूर्ण साक्षात्कार करें।"[112]

उपसंहार की ही अन्तिम पंक्तियों :–

"विरिध सो सीस डोलावैं, सीस धुनैं तेहि रीस।
बूढ़े आढ़े होहु तुम केइँ यह दीन्ह असीस।"

का मर्म उद्घाटित करते हुए साही कहते हैं "एक तरफ विशाल छविमय कल्पना –संसार है जिसकी कथा जायसी ने सुनायी और दूसरी तरफ इसको जोड़ने वाली वह सृजनात्मक अनुभूति है जिसे जायसी ने अपने रक्त की लेई कहा। इस रक्त की लेई में सचमुच कितना खून देना पडा है, इसका मूर्तिमान प्रमाण उपस्थित करने के लिए कहानी की अन्तिम किरण उस सर हिलाते निचुड़े हुए वृद्ध पर डाली गयी है जिसका नाम भी मलिक मुहम्मद जायसी है।"[113]

इस बूढ़े अलक्षित जायसी की खोज में साही को निराला की इन पंक्तियों की याद आ जाती है –

स्नेह निर्झर बह गया है
रेत ज्यों तन रह गया है।

साही की आलोचना में उनका 'कवि पक्ष' न सिर्फ 'जायसी' की कविता का मर्म उद्घाटन करने मे सहायता करता है, बल्कि आलोचना की भाषा को भी समृद्ध करता चलता है। साही का जायसी के 'कवि–व्यक्तित्व' के सन्दर्भ में निष्कर्ष है कि "वेश से बिल्कुल रूखा–सूखा है, लेकिन उसके भीतर एक धूल लपेटा हुआ माणिक्य है। जब वह कलम उठाता है तो धूल उड जाती है और भीतर का माणिक्य दिप–दिप करने लगता है। अमृत की वर्षा होने लगती है। इस बूढ़े को ध्यान से देंखे। वह चमत्कारी बाबा नहीं हैं, साधारण मनुष्य है। सूफी शेख नहीं है, कवि है"[114]

डॉ० माता प्रसाद गुप्त के द्वारा रूपक के तौर पर इस्तेमाल छन्द को क्षेपक सिद्ध करने के बावजूद विद्वानों ने पद्मावत में प्रेम की पीर, विरह की तडप और पद्मावती को विश्व व्यापक ज्योति के रूप में इंगित करने को लेकर तसव्वुफ से जायसी का सम्बन्ध जोडते चले आज रहे थे। साही ने इसका विरोध कर जायसी में ऐसे बहुत से तत्वों को तथ्यों के आधार पर खोजकर दिखाया है जो सूफी आन्दोलन के घेरे में नहीं आता। इसके लिए उन्होंने अमीर खुसरो और उसके ग्रंथ 'खजायनुल फतूह' व 'तारीखे–अलाई' को जायसी के साथ रखकर विवेचित किया और जायसी की जातीय सांस्कृतिक दृष्टि को उभारा। खुसरो का इस्लामी कट्टरता, महजबी जुनून और फारसी संस्कृति का झंडाबरदार होना, कुल मिलाकर उसके वर्णन का मुहावरा कट्टर साम्प्रदायिक है। खुसरो ने अलाउद्दीन के चित्तौड़ विजय का जो अनुभव प्रत्यक्ष लिखा वही पद्मावत के उत्तरार्ध की कथा है। लेकिन दृष्टि में कितना फर्क है इसका प्रमाण है रणथम्भोर के किला के टूटने का वर्णन। खुसरों के लिए किला का टूटना इसलिए महत्वपूर्ण है कि वह "काफिरों के खून से धुलकर पृथ्वी को पाक होता देखता है ओर उल्लसित होकर इस साम्राज्यवादी सत्ता संघर्ष को इस्लाम की विजय मानता है। जौहर करती हुई स्त्रियों के अनार की तरह कठोर स्तन ही उसे दीखते हैं। इसके विपरीत जायसी उड़ती हुई दो मुट्ठी राख की तरह इस पृथ्वी विजय को झूठा देखते हैं और उनकी आवाज में ट्रेजिडी, व्यंग्य और एक गहरे विषाद का सम्मिश्रण है जो जायसी के इस्लाम और अलाउद्दीन मे गंभीर अन्तर की अनुभूति प्रस्तुत करता है।"[115]

अपनी मूल प्रकृति में पद्मावत को साही ट्रेजडी मानते हैं। "शायद हिन्दुस्तान या संभवतः एशिया की धरती पर लिखा हुआ यह एक मात्र ग्रन्थ है जो यूनानियों की ट्रेजडी के काफी निकट है।"[116] इस ट्रेजडी में जायसी के अनुभव की वह मानवीय अनुभूति है जिसके निकट समस्त आध्यात्मिक दर्शन बराबर प्रांसगिक और अप्रासंगिक हो जाते है। साही का मानना है कि "तसव्वुफ की शब्दावली हो, क्या हठयोग की ही क्या चारों ओर घटित होता हुआ राज्यों का उत्थान–पतन हो, क्या गाँवों से उठता हुआ बारह मासा हो, क्या काम शास्त्र की झलक देता हुआ रति वर्णन या नायिका भेद हो यह सब जायसी के लिए सहज उपलब्ध भावना के

मुहावरे है जिनका एक मात्र उद्देश्य मनुष्य के मर्म में प्रविष्ट होना है जिस तक जायसी स्वयं अपने ही कर्म को बार–बार उधार कर पहुँचे थे।"[117]

साही का मानना है कि "साहित्य में किसी विचारधारा या दार्शनिक सिद्धान्त का वहन करना एक बात है और अपने युग की सम्पूर्ण चिन्तशीलता में उलझी हुई अनुभूति को आत्मसात करना दूसरी बात है। यह आत्मस्थ चिन्तनशीलता गंभीर साहित्य को एक बौद्धिक सघनता प्रदान करती है।"[118] जायसी की यही चिन्तनशीलता पूरी कथा में एक तरल दृष्टि का सृजन करती है जिसमें मानवीय व्यापार के प्रति पीड़ा है–किन्तु अवसाद नहीं, हल्का वैराग्य है,–लेकिन गहरी संशक्ति भी है, तटस्थता है, लेकिन स्पष्ट नैतिक विवेक भी है। यही वह सुगंध है जो फूल के मरने के बाद भी नहीं मरती।"[119]

पदमावत के शिल्प के विषय में साही की स्थापना है कि जायसी अन्योक्ति, समासोक्ति से हटकर तीसरी स्थिति का प्रयोग करते हैं। "वाच्यार्थ अथवा प्रस्तुत प्रसंग की प्रमुखता बराबर बनी रहे और दूसरा अर्थात् अप्रस्तुत या व्यंजित अर्थ थोड़ी देर के लिए अतिरिक्त झलक दिखाकर पहले अर्थ में विलीन हो जाय, जायसी की वर्णन शैली है।"[120]

इसी क्रम में साही कहते है कि "इस तीसरी अवस्था में प्रस्तुत अर्थ के समाहित हो जाने से प्रसंगगत अर्थ में तीव्रता, वैचारिक तरंगाकुलता और भावों के संश्लेष का समायोजन होता है। यही है वह विस्तृत होती हुई झंकार जिसे हम बौद्धिक सघनता कह सकते हैं।"[121] इसी 'बौद्धिक सघनता' से जायसी इतिहास और इतिहासातीत के तनाव से कथा की रचनात्मक संभावनाओं को चरितार्थ करते हैं। पद्मावत को विद्वानों ने दो खण्डों में बाँटकर देखा है। स्वयं शुक्लजी की भी यही पद्धति है। शुक्ल जी का सारा विश्लेषण प्रथमार्द्ध पर ही केन्द्रित रहा है। साही ने इस दृष्टि को उचित नहीं माना। चूँकि पद्मावत मात्र प्रेम की कहानी नहीं है बल्कि प्रेम और युद्ध की मिली जुली कहानी है। इसलिए साही का तर्क है कि पद्मावत को खण्ड–खण्ड देखना उचित नहीं। पद्मावत के मूल को उसकी सम्पूर्णता में ही जाना जा सकता है।

सम्पूर्ण पद्‌मावत के कथानक की बनावट में दो दुनियॉ हैं "स्वप्नों आकांक्षाओं मूल्यवत्ता की एक दुनिया भीतर है। रौदती हुई सत्ता की आतंककारी दुनिया बाहर है। क्या ये दोनों दुनियाएँ एक दूसरे में प्रविष्ट होकर समन्वय प्राप्त कर सकती है? जब ये दोनों दुनियाऍ एक दूसरे के निकट आती है, तो क्या होता है अपनी आत्मा की पूरी शक्ति से जायसी ने इसी सवाल को **आध्यात्मिक, भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक** आयामों में पूरे पद्‌मावत की कथा में पूछने का अभूतपूर्व प्रयास किया है। जबाब में उन्होंने देखा चिता से उडती हुई राख और एक वीरान सन्नाटा। और जायसी उस चिता की राख को कुरेदते हैं कि इसमें एक धडकता हुआ हृदय था, उसका क्या हुआ? गालिब के शब्दों में :–

जला है जिस्म जहाँ दिल भी जल गया होगा
कुरेदते हो ये क्यों खाक जुस्तजू क्या है ?

यह जुस्तजू ही वह प्रश्न चिन्ह है जिसे हम जायसी के ट्रेजिक विजन या विषाद दृष्टि की भाँति देखते हैं।"[122]

जायसी ने कथा की नायिका पद्‌मावती को स्वप्न और यथार्थ, आकांक्षा और मुट्‌ठी भर राख, जीवन और मृत्यु इन परस्पर विरोधी तत्वों के बीच जगमगाते सौन्दर्य राशि के रूप में रचा है। उसके जादू भरे स्पर्श सौन्दर्य से सकल चराचर विमोहित हो जाते हैं। चित्तौड़ की कथा जादुई चमत्कार के निषेध से आंरभ होती है। जायसी एक नाटककार की भॉति एक दूसरे लोक में प्रविष्ट करते हैं जहाँ सिंहल लोक की तमाम शर्तें निरर्थक सी प्रतीत होती हैं। पर सबसे बड़ा अंतर काल का है। डॉ० गिरिजा राय के अनुसार "सिंहल लोक फैटेसी का लोक है वहॉ काल बोध एक चिरन्तन स्थिरता और वैश्विक सांमजस्य से जुड़ा है। परन्तु दिल्ली–चित्तौड़ में काल भूत वर्तमान भविष्य की सीधी रेखा में दौड़ता है। हर घटना की ओर भागती है और इस भविष्य पर किसी का कोई अधिकार नहीं है– न रतनसेन का न अलाउद्‌दीन का। यह वह दुनिया नहीं है जहाँ अँबराई बराबर फूलती है। यह यथार्थ की दुनिया है।"[123] पद्‌मावती प्रकाश का वह पुंज है जिसकी आभा से लगातार ऊर्जा प्रस्फुटित होती रहती है। कुल मिलाकर "पदमावती जिंदगी

का दर्शन नहीं है, जिदंगी है। वह जायसी का तसव्वुफ नहीं, जायसी की कविता है।"[124] पद्मावती ही कथा के दोनों भागो को आपस में मिलाने वाले 'सेतु' का काम करती है और उसका जौहर वह विषाद दृष्टि देता है जिससे पाठक का अर्न्तमन लगातार मथता रहता है। साही का तर्क है कि "पद्मावती स्थूल और सूक्ष्म, पार्थिव–अपार्थिव दोनों स्तरों पर एक साथ झंकृत है। वस्तुतः पद्मावती आधा स्वप्न है आधा यथार्थ। पद्मावती का चित्र रोमांटिक नहीं है जहाँ यथार्थ उसी समय अपनी आभा को प्राप्त करता है जब वह पिघलता हुआ अशरीरी हो जाने के क्षण में अटका होता है। लेकिन जायसी ने शास्त्रीय पद्धति के जिस नख–शिख वर्णन और काव्य अभिप्रायों का सहारा लिया है, उसने जहाँ पद्मावती को स्वप्नवत् बनाया, वहीं उसको एक वस्तुपरकता भी प्रदान की। पद्मावती कवि का निजी स्वप्न नहीं है, जैसा रोमांटिक और छायावादी कवियों के साथ होता था – पद्मावती एक पूरी संस्कृति का स्वप्न है।"[125] इसी 'सांस्कृतिक स्वप्न' को साही ने अपने विवेक से यथार्थ बनाया है।

'प्रतिध्वनिअलंकार' या कथा के दो भागों को आमने–सामने रखकर जिस तरह जायसी ने पद्मावत को रचा। उसी तरह उसका मर्म खोलते हुए साही पद्मवती के सामने नागमती को रखते हुए जायसी की प्रतिभा की सर्वोत्कृष्टतर कल्पना नागमती के विरह वर्णन को उद्घाटित करते हैं। यह मानते हुए कि आचार्य शुक्ल ने नागमती के विरह वर्णन के आन्तरिक संवेगों की तरलता और तीव्रता की बदौलत जायसी को गुमनामी से उठाकर 'हिन्दी की त्रिवेणी' में बैठा दिया। साही अपनी मर्मग्राही दृष्टि से कहते हैं "नागमती का पार्थिव शरीर और महल की सखियाँ शुरू की कुछ पंक्तियों में झीनी–सी दिखाई पड़ती हैं। अचानक कल्पना एक झटके से मुक्त हो जाती है और हमारा साक्षात्कार आवाज, सिर्फ आवाज से होने लगता है। धीरे–धीरे झीनी पार्थिवता भी केंचुल की तरह छूट जाती है। सारी पार्थिवता तिरोहित होने लगती है सखियाँ पिघलकर तिरोहित हो जाती हैं। चित्तौड़ का किला, राज महल सब तिरोहित हो जाता है, यहाँ तक कि नागमती का पार्थिव शरीर भी तिरोहित हो जाता है। वीरानों, जंगलों, वनखण्डियों, पहाड़ियों, गाँवों खेतों में टीसती हुई एक साफ, लेकिन अशरीरी आवाज शेष रह जाती है। यह आवाज पूरे देश के

गुजरते हुए समय के मर्म मे निरन्तर तैरती रहती है। देश और काल, दोनों अनावश्यक आवरण की तरह छूटकर गिर जाते है – मर्म केवल मर्म ही रह जाता है। किसकी आवाज है यह? 'नागमती' की? इस आवाज में एक पारदर्शी निर्वैयक्तिकता है जो नागमती को भी पीछे छोड जाती है। शनैः शनैः यह अन्तर्वर्ती आवाज पूरे चित्तौड़ की, और उससे भी आगे बढकर उस पूरे इतिहास लोक की आवाज हो जाती है जिसे छोडकर रतनसेन चला गया है।"[126]

विजय देव नारायण साही ने 'जायसी' को एक आधुनिक कवि के रूप में खोजा है। साही की आलोचना जायसी के शब्दों में 'फूल मरै पर मरै न बासू' की तरह है। साही के इस आलोचनात्मक अवदान पर आधुनिक कवि समीक्षक परमानन्द श्रीवास्तव की टिप्पणी है "पद्मावत के समग्र संगठन से गुजरते हुए साही उस सारतत्व को रेखांकित करना चाहते हैं जो तमाम निस्सारता को पार कर उसी सुगंधि के रूप में शेष रह जाता है जिसकी ओर इशारा उपर की पंक्तियों में किया गया है। यही साही की मुख्य उपलब्धि है जायसी के तसव्वुफ को वह अपने तर्क, अनुमान, मौलिक विश्लेषण से चाहे पूरी तरह काट न सकें हो, जायसी की कविता की संश्लिप्ट समग्र पहचान में उनकी सफलता असंदिग्ध है।"[127]

साही ने 'जायसी' की नयी खोज करके न सिर्फ जायसी का पुनर्विष्कार किया है बल्कि 'हिन्दी आलोचना' को आधुनिक दृष्टि से नये मूल्यांकन का औजार भी उपलब्ध कराया है। नागेश्वर लाल का मानना है कि "विजयदेव नारायण साही की यह खोज न अकारण न आरोपित, लगता है कि उन्होंने अपने युग में निस्सार पाया उसके है सहारे जायसी के युग को समझने में उन्हें सुविधा हुई। इसीलिए वे जायसी के साथ बहुत कुछ अन्तरंग सम्बन्ध बनाने में समर्थ हो सके। इस तरह पद्मावत सैकड़ो वर्ष पहले लिखे जाने के बावजूद समकालीन सन्दर्भ में इतना प्रासंगिक प्रतीत हुआ। स्वभावतः उस कृति को वर्तमान युग में नया अर्थ–सन्दर्भ और नया आयाम प्राप्त होता है।"[128]

फुटनोट

1. वर्तमान साहित्य (पत्रिका) – शताब्दी आलोचना पर एकाग्र– भाग.1 (सं० अरविन्द त्रिपाठी) – भूमिका
2. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही – पृ० 263
3. पूर्व ग्रह (पत्रिका) साही विशेषाक – सं० रमेशचन्द्र शाह पृ० 13
4. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 260
5. मछली घर विजय देव नारायण साही (जगदीश गुप्त का वक्तव्य) पृ० 7
6. जायसी विजय देव नारायण साही (जगदीश गुप्त का वक्तव्य) पृ० 11
7 छठवा दशक विजय देव नारायण साही भूमिका
8. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 23
9. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 21
10. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 22
11. साहित्य में संयुक्त मोर्चा अमृत राय पृ०8–9
12. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 26
13. अभिप्राय साही विशेषांक – सं0 राजेन्द्र कुमार पृ० 90
14. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ०18–19
15. अभिप्राय पत्रिका साही विशेषांक – सं0 राजेन्द्र कुमार पृ० 87
16. मार्क्स गॉधी एण्ड सोशलिज्मराम मनोहर लोहिया पृ० 137
17. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 70
18. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 74
19. तीसरा सप्तक संम्पादक – अज्ञेय पृ० 182
20. तीसरा सप्तक सम्पादक – अज्ञेय पृ० 183
21 छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 75
22. वर्तमान साहित्य पत्रिका शताब्दी आलोचना पर एकाग्र भाग–1 सं0 अरविन्द त्रिपाठी पृ० 89
23. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 79
24. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और वि0 हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० 44
25. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 87
26. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 87
27. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 136
28. विवेचना गोष्ठी 1964 में पठित्
29. वर्तमान साहित्य पत्रिका शताब्दी आलोचना पर एकाग्र भाग–1 सं0 अरविन्द त्रिपाठी पृ० 89
30. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 196
31. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 196
32. दूसरा सप्तक सम्पादक – अज्ञेय पृ० 87
33. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 200

34.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 200
35.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 216
36.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ०216–17
37	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 217
38.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 218
39.	नई कविता के सयुक्तांक (5–6) में प्रकाशित अपूर्ण लेख		
40	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 259
41	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 259
42.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 260
43	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 260
44.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 260
45	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 264
46.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 268–69
47.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 271
48.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 272
49.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 272
50.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 276
51.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 279
52.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 312
53.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 316
54.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 317
55.	छठवां दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 3
56.	1988 में प्रदीपन प्रकाशन से कंचनलता साही द्वारा प्रकाशित		
57.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही – आमुख	पृ० 01
58.	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 260
59.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 8
60.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 9
61.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 20
62.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 18
63.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 19
64.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 36
65.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 38
66.	दिनमान में 3 किश्तों की लेखमाला दो अंक साहित्य क्यों? में संकलित		
67.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 44
68.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 84
69.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 85
70.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 90
71.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 93
72.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 74
72.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 75
73.	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 78

74. साहित्य क्यों ? विजय देव नारायण साही पृ० 78
75. साहित्य क्यों ? विजय देव नारायण साही पृ० 79
76. लोकतंत्र की कसौटियॉं – हिन्दुस्तानी एकेडमी 1991 में प्रकाशित
77. लोकतंत्र की कसौटियॉं विजय देव नारायण साही
–भूमिका मधुलिमये पृ० XI
78 लोकतंत्र की कसौटियाँ विजय देव नारायण साही
–भूमिका मधुलिमये पृ० XIII
79. वर्धमान और पतनशील – कंचन लता साही द्वारा वाणी प्रकाशन दिल्ली से 1991 में प्रकाशित
80. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 07
81. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 17
82. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 18
83. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 18
84. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 21
85. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 24
86. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 36
87. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 224
88. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 224–25
89. छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 125
90. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 49
91 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 59
92. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 59
93. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 62
94. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 131
95. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 136
96. हिन्दी साहित्य सम्मेलन में 25 सितम्बर 1982 में विषय प्रवर्तन के रूप में
97. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 140
98 साहित्य और साहित्यकार का दायित्व विजय देव नारायण साही पृ० 54
99. साहित्य और साहित्यकार का दायित्व विजय देव नारायण साही पृ० 55
100. साहित्य और साहित्यकार का दायित्व विजय देव नारायण साही पृ० 57
101. अभिप्राय पत्रिका साही विशेषांक सं0 राजेन्द्र कुमार पृ० 67
102. वर्तमान साहित्य पत्रिका शताब्दी आलोचना विशेषांक सं0 अरविन्द्र त्रिपाठी पृ० 88
103. साहित्य क्यों विजय देव नारायण साही पृ० 85
104. जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 112
105. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 90
106. जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 91
107. जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 01
108 साहित्य का नया शास्त्र गिरिजा राय पृ० 121

109.	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 32
110.	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 55
111	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 34
112.	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 35
113	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 50
114	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 59
115	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 62
116	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 63
117.	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 67
118.	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 67
119.	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 67
120.	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 70
121.	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 70
122.	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 98–99
123.	साहित्य का नया शास्त्र	गिरिजा राय	पृ० 127–28
124.	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 105
125	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 104
126.	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 111
127.	पूर्वग्रह पत्रिका साही विशेषांक	सम्पादक – रमेश चन्द्र शाह	पृ० 110
128.	आलोचना (पत्रिका)	अक्टूबर–दिसम्बर 84 सं० नामवर सिंह	पृ० 94

चतुर्थ अध्याय

विजयदेव नारायण साही के आलोचनात्मक प्रतिमान

विजयदेव नारायण 'साही' का 'आलोचना–कर्म' मूलतः 'नयी कविता' के दौर में शुरू हुआ। 'तीसरे सप्तक' के कवि साही ने साहित्य को उसके राजनीतिक, सामाजिक, सन्दर्भों से जोडकर देखा–परखा। लोहियावादी–समाजवादी चिंतक साही ने 'साहित्य' को विचारधारा के आधार पर समझने के बजाय विचारात्मक दृष्टि से समझने का प्रयास किया। साही के दौर में मार्क्सवादी विचारधारा का जोर 'साहित्य' पर अत्यधिक था। समाज के अतिशय और व्यापक संयोजन से 'साहित्य' में 'मनुष्य' और उसके अन्तःकरण में घटित होने वाली चेतना की स्थिति पर ध्यान न देकर साहित्य को 'सामाजिक सन्दर्भों' से विवेचित करने की वकालत चल रही थी। वस्तुपरक चूंकि हो जाने के कारण साहित्य की चारूता मर जाती है। इसलिए विचारधारा आधारित रचना–आलोचना एक तरह की यूटोपिया का निर्माण करने लगती है और इसी "यूटोपिया की अंतिम परिणति मार्क्सवाद है, और मार्क्सवाद वह हिस्सा है जो काव्यानुभूति के बाहर पडता है। वह शुद्ध वस्तुपरकता है जहाँ कवि मर जाता है, कवि ही क्यों यथार्थ भी मर जाता है, हाथ आता है एक मरा हुआ वर्तमान और मरा हुआ भविष्य।"[1]

साही की चिन्ता 'मनुष्य नाभिक' रही है। 'मनुष्य' की स्वातन्त्र्य सत्ता की रक्षा ही 'साहित्य' का मूल उत्स होना चाहिए ऐसा साही का मानना था। साहित्य में यह विवाद का विषय रहा है कि समाज और मनुष्य में से साहित्यकार को किसको बदलने का आग्रह करना चाहिए। समाज को बदल दो, मनुष्य बदल जायेगा एक सिद्धान्त ऐसा है तो, मनुष्य को बदल दो, समाज खुद–ब–खुद बदल जायेगा एक ऐसा दूसरा सिद्धान्त भी है। वस्तुतः यह विचार 'व्यक्ति' और 'परिवेश' सम्बन्धित हैं। पश्चिम में तेन से लेकर पूर्व में गाँधी, लोहिया के साथ–साथ आज तक इस बात पर बहस होती रही है।

डा० लोहिया ने गाँधी और समाजवादी दृष्टिकोणों का हवाला देते हुए लिखा है कि "गॉधी जी में व्यक्ति पर अधिक और परिवेश पर कम बल देने की प्रवृत्ति हैं। यह भी महसूस किया जाना चाहिए कि समाजवाद में परिवेश को अधिकतर और

व्यक्ति को कमतर महत्व देने की प्रवृत्ति है। अगर विचारों के तार्किक विधान का तरीका निकालना है तो दोनों पर समान जोर देना होगा।"[2]

साही ने 'व्यक्ति और परिवेश' जिसके तहत मानव–समाज का पूर्णतया कृतित्व और भौतिक जगत आता है और जिसके योग से मनोभूमि का निर्माण होता है, को बराबर का महत्व दिया है। साही ने दोनों के बीच संतुलन का जोखम उठाया फलस्वरूप 'जायसी' का 'कवि–व्यक्तित्व' भी पकड़ में आया और साहित्यकार का दायित्व भी। डा0 सत्य प्रकाश मिश्र के अनुसार "वे देवता और राक्षस को अलग–अलग भी देखते हैं, और उनके अन्तः प्रवेश तथा बहिर्आच्छादन को भी ध्यान में रखते है' और चूंकि इन सब का स्रोत अन्ततः मनुष्य है इसलिए साही अपने महत्वपूर्ण लेखों में यहां तक कि जीवन में भी उस अपरिभाषित को जिसे सामाजिक कठिनाई के कारण अपौरूषेय कह दिया गया था, परिभाषित करते रहने का प्रयत्न करते हैं।"[3]

एक तरफ साही की चिन्ता का मुख्य विषय 'मनुष्य' रहा है, जो लघु भी है, महत् भी कुल मिलाकर 'सहज मनुष्य' है तो दूसरी तरफ वे 'भारतीयता' से ओत–प्रोत हो साहित्य के मूल्यांकन में प्रविष्ट होते हैं। यह भारतीय चिन्तनधारा उन्हें वेद में ले जाती है, कालिदास की तरफ मोड़ती है तो रीतिकाल के साथ–साथ छायावाद और 'नयी कविता' की भाव–भूमि को समझने का उपकरण उपलब्ध कराती है।

साही मार्क्सवादी विचारधारा के कट्टर विरोधी थे। ऐसा तमाम आलोचकों खासकर मार्क्सवादी विचारकों का मानना है। साही ने स्वयं ही कहा भी है कि "कम्युनिस्ट नही हूँ"[4]। साही के आलोचना सम्बन्धी दृष्टिकोण में इस सूत्र का बहुत महत्व है। साही ने बार–बार 'कम्युनिस्ट आलोचना' को कटघरे में खड़ा किया। मार्क्सवादी विचारकों को बार–बार उद्धृत करके उनके विचारों में जो वर्ग आधारित राजनीतिक चेतना थी, उसे साहित्य के लिए हानिकारक बताया। मार्क्सवादी विचारों की जो पृष्ठभूमि थी मूलतः वह पश्चिम से आयी थी। साही का मानना है कि 'पश्चिम' के विचारों से पूर्व का कोई भला नहीं हो सकता, कारण यह कि 'पूर्व' की

सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति पश्चिम से भिन्न है। मार्क्स के इस कथन पर कि "अगर अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को अपनी दानवीय वर्बरता के साथ कुचल कर और तहस–नहस करके न रख दिया होता तो हिन्दुस्तान में कभी प्रगति की लहर ही न उठती।"[5] साही उत्तेजित होकर कहते हैं कि मार्क्स तो ऐसा कहेगा ही "क्योंकि वह तो इंग्लिस्तान का रहने वाला था न! जर्मनी का रहने वाला था न! ब्रिटिश म्यूजियम में लिख रहा था न !"[6] दरअसल साही की भारतीयता से ओत–प्रोत दृष्टि ने किसी भी कीमत पर पश्चिम के विचारकों के भारत के सम्बन्ध में दिये गये निष्कर्षों को स्वीकार नहीं किया।

विचारधारा आधारित रचना या आलोचना से साहित्य का मर्म स्पष्ट नहीं हो पाता। साही इसे 'कवि–व्यक्तित्व' के लिए बाधक मानते हैं। जायसी के सन्दर्भ से इसे विश्लेषित करते हुए साही कहते हैं कि "वस्तुतः मात्र मनोरंजन साहित्य और मात्र संदेशवाहक साहित्य दोनों एक सिक्के के दो पहलू ही साबित हो जाते हैं। मनोरंजक साहित्य यह देखने के लिए तैयार ही नहीं होता कि जिन्दगी को अर्थ से आलोकित करने वाले तत्व क्या हैं और कहा हैं। अतः जिन्दगी का एक वह बड़ा हिस्सा, जहॉ मानवीय विवेक और भावनाओं के लिए मूलभूत प्रश्न खड़े होते हैं, मनोरंजनकर्ता लेखक के हाथ से छूट जाता है। मात्र संदेशवाहक साहित्य यह मानकर चलता है कि मूलभूत प्रश्न और मूलभूत उत्तर सब प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें शब्दों और मुहावरों में बॉधा जा चुका है और वे सारे प्रश्न जो इस बने–बनाये ढॉचे से बाहर पड़ते हैं, अप्रासंगिक और अनावश्यक हैं, बल्कि प्रश्नकर्ता की कुटिल बुद्धि से ही उपजते हैं। इस कटे–छटे संदेश का भी परिणाम यही होता है कि जिन्दगी का बहुत बड़ा हिस्सा जहाँ मानव–विवेक और भावनाओं के लिए वास्तविक चुनौतियाँ होती हैं, लेखक के हाथ से छूट जाता है, छोटे लेखकों के साथ तो यह घटित होती ही है, बड़े लेखकों के साथ भी अन्ततः यह अपर्याप्तता सामने आने लगती है। जितना असंदिग्ध संदेश होता है उतनी ही जल्दी वह पुराना और बासी पड़ जाता हैं। मात्र मनोरंजन और मात्र आध्यात्मिक संदेश–इन दो खतरों .को बेध कर जायसी किस तरह अपनी अनुभूति को अर्थवान बनाते हैं– यही उनकी सृजनात्मक क्षमता का रहस्य है।"[7]

सत्य प्रकाश मिश्र के अनुसार "साही का यह विश्लेषण मात्र इतने से ही एक प्रतिमान नहीं बन जाता परन्तु जब वह कहते हैं कि 'मात्र मनोरंजन' और 'मात्र आध्यात्मिक' संदेश–इन दो खतरों को बेधकर जायसी किस तरह अपनी अनभूति को अर्थवान् बनाते हैं–यह उनकी सृजनात्मक का रहस्य है। तो वे एक स्थापना करते हैं जिसमें जायसी के शब्दों के स्थान पर 'बडा लेखक' शब्द जोडा जा सकता है या 'लेखक' शब्द रखकर 'उनकी सृजनात्मक' के स्थान पर 'उसकी सृजनात्मक महानता' शब्द कर दिया जा सकता है।"[8]

समाजवादी विचारक साही जितना 'लोहिया–गॉधी' के नजदीक हैं उतना ही नेहरू के स्वतन्त्रतापूर्ण चिन्तन के भी। यह और बात है कि वे जितना गाँधी के नजदीक होते जाते हैं, नेहरू से वैचारिक दूरी उतनी ही बढ़ती जाती है। वस्तुतः यही वैचारिक स्थिति लोहिया की भी है। छायावाद और उत्तर छायावाद के बीच जो मनोभूमि का अन्तर है, वह गॉधीवादी, नेहरूवादी दृष्टि का भी अन्तर है। 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' में अगर लघु, महत्, सहज मानव को संदर्भित करने का प्रयास तो है 'मनोभूमि' में परिवर्तन के कारकों को खोजने का प्रयास भी है। साही ने बार–बार 'मनोभूमि' को परखने का प्रयास किया है। यह 'मनोभूमि' क्या है? साही के अनुसार "साहित्य में भावनाओं, धारणाओं, विचारों, आदर्शों, उद्देश्यों, मन्तव्यों, अनुभूतियों, व्यवहारों, प्रणालियों आदि के मिले–जुले प्रतिक्षण सर्जित–विसर्जित प्रवाह जिसको 'मनोभूमि' (या अगर बहुत गतिहीन रूपक लगे तो मनःप्रवाह) कहते हैं।"[9]

जब–जब उपर्युक्त विचारों में परिवर्तन होता है साहित्य की धारा नई दिशा में मुड़ने लगती है। साही के उपर्युक्त प्रतिमान सिर्फ आधुनिक काव्यधारा को समझने मे ही नहीं सहायक है बल्कि इससे उन्होने कालिदास को परखा,जायसी के सन्दर्भ में फिरदौसी को देखा। अमीर खुसरो से लेकर, गालिब और निराला तक के संदर्भ में यही प्रतिमान 'मनोभूमि' ही है।

नयी कविता में 'लघुमानव' को लेकर स्थापित करने का प्रथम प्रयास लक्ष्मी कान्त वर्मा का है। 'नयी कविता' के संस्थापक–सम्पादक जगदीश गुप्त ने

'लघुमानव' की अवधारणा को तो एक सिरे से खारिज कर दिया लेकिन विजयदेव नारायण साही ने 'लघु मानव' की परिकल्पना को एक नयी भाव–भूमि देते हुए व्याख्यायित किया। लघु मानव की अवधारणा को लेकर 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' में साही लिखते है कि "यह कहना कि लघुमानव 'सहज मानव' है, कुछ जँचता नहीं। और यह भी आग्रह मुझे काम का नहीं लगता कि हम 'सहज मानव' या 'मानव' क्यों न कहें। क्योंकि 'सहजमानव' या 'मानव' की किस झलक को हम देखते हैं और उसकी कितनी सजीवता हमारी पकड़ में आ रही है, इसी को समझने के लिए तो यह सारी खोजबीन है।"[10] और "मनुष्य की हर परिभाषा मूलतः 'सहज मानव' की परिभाषा है चाहे हम मनुष्य की परिभाषा को कितना भी विकृत या अयथार्थ क्यों न समझे। अगर वह 'सहज मानव' की न हुई तो उसे परिभाषा कहना ही व्यर्थ है।"[11] साही की 'मनुष्य' चेतना दृष्टि मनुष्य को उसके उसकी सम्पूर्णता में देखने की पक्षपाती रही है। चुंकि "बारम्बार मनुष्य को बदलते हुए देश–काल में परिभाषित करना साहित्य की जिम्मेदारी है"[12] तो स्वाभाविक था कि साही की आलोचकीय दृष्टि 'साहित्य' को उसके सम्पूर्ण कलेवर में देखने की पक्षपाती रहती, इसीलिए साही का विचाराधारा पर जोर कम साहित्य के मर्म को समझने के प्रयास पर अधिक रहा है और इसीलिए साही रचना पर जोर देते हैं उसके बाहरी तत्वों पर कम, इसीलिए कमला प्रसाद कहते हैं कि "वे पंक्तियों के बीच के मर्म (Between the line) को खोलने में तल्लीन रहते थे।"[13]

साही ने 'मनुष्य' को 'सहज मानव' के रूप में सृजनात्मक के अर्थ में परिभाषित करने का प्रयास किया है, वैज्ञानिक रूप से नहीं । अगर वैज्ञानिक तरीके से मनुष्य को परिभाषित नहीं किया जा सकता तो स्वाभाविक है कि परिभाषा अधूरी है। लेकिन साही ऐसा नहीं मानते। "निःसीम होना हमारी विवशता है। लेकिन उस निःसीम को बराबर सीमित जाल में फॅसाते रहना और उसमें निरन्तर सफल–असफल होते रहना, यह हमारी सबसे बडी उपलब्धि है, सृष्टि है। इसलिए साहित्य कभी सहज मनुष्य को नहीं पकड़ता–वह केवल उस केन्द्रित–कालबद्ध जाल में फँसी हुई सीमित झलक को पकड़ता है जहाँ से वह सहज आभासित होता है।"[14] यही मनुष्य नाभीय दृष्टि साही को बार–बार साहित्य के मूल में, तलस्पर्शी

तत्वों को खोजने को बाध्य करती है और यही मनुष्य चेतना दृष्टि साही को 'जायसी' में मिलती है, कालिदास में मिलती है। आधुनिक काल में होने वाले परिवतन के मूल में भी यही मनुष्य है। "साही साहित्य के द्वारा परिभाषित सहज मनुष्य की झलक की सामाजिक मनुष्य की सहजता से तुलना भी करते हैं परन्तु यह मानकर चलते हैं (बल्कि समस्या के रूप में मानते हैं) कि दोनों एक नहीं हो सकते हैं"[15] इसीलिए साही मनोभूमि की बनावट की खोज करते रहते हैं उसका मूल्यांकन करना उनका ध्येय नहीं है क्योंकि "आलोचना का काम साहित्यिक कृति की संवेदना को जबरदस्ती खींचकर पाठक तक पहुँचा नहीं है। आलोचना सिर्फ इतना कर सकती है कि पाठक के जो भी वैचारिक धारणात्मक पूर्वग्रह जाने या अनजाने, अपनी उपस्थिति या अनुपस्थिति के कारण पाठक को उस ओर उन्मुख होने से रोक रहें हैं जहॉ से काव्य का प्रभाव प्रवाहित हो रहा है, उन्हें विनिष्ट करके पाठक को एक उचित तत्परता की अवस्था में छोड़ दे"[16] और साही इसीलिए किसी कविता की व्याख्या की अपेक्षा उसके अन्तर्भावों को उद्घाटित करना महत्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि "आलोचक गाने वाले स्वर से स्वर मिलाकर गा नहीं सकता।"[17]

प्रत्येक साहित्यकार के सामने जीवन की विषय वस्तु–जिसमें उसका राजनीतिक सन्दर्भ भी होता है, सामाजिक सन्दर्भ भी होता है, जीवन की विविध गतिविधियां भी होती हैं और युग से जुझने के साथ–साथ नये भाव–बोध से सम्पकृत होने का संघर्ष भी होता –को रूपाकार ढ़ालना एक नैतिक प्रश्न के रूप में उपस्थित होता रहता है और यह प्रश्न जितना नैतिक होता है उतना ही सृजनात्मकता के लिए चुनौती भी प्रस्तुत करता रहता है।यह चुनौती तब और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है जब युग का काल–प्रवाह स्थिर हो या काल–प्रवाह और मनुष्य की चेतना में विखंडन पैदा हो जाय। साही इस दृष्टि से रघुवीर सहाय और अज्ञेय से भिन्न प्रतीत होते हैं क्योंकि वे दीप्तिमान क्षण के बजाय चेतना की वर्तमानता की बात करते हैं। साही का मानना है कि "वह मेरे लिए चाहे स्मृति की शकल बनकर आवे, चाहे अभिलाषा की शकल में आवे तो अंततः यह समस्त घटनायें मेरे आंतरीक चेतना–जाल का अंग ही बनकर के आती है। और वह अतीत

से लेकर के भविष्य तक फैला जरूर दिखता है, परन्तु है वह उसी क्षण जिस समय मै चेतन हूँ। यदि मैं चेतना खो दूँ तो वह भविष्य भी गया और वह अतीत भी। इस अर्थ में चुंकि हमारी लेखन की प्रकृति, कल्पना की प्रकृति अनुभव को समझने की प्रकृति, साक्षात्कार की प्रथम शर्त इस प्रकार की समग्रता में ही है।"[19] साक्षात्कार के क्षण की नैतिकता साही को नीत्शे के करीब भी ले जाती है। तीसरा सप्तक के पचीसशीलों में से एक शील में वे 'जरथुस्त उवाच' को सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से जला देने लायक मानते हुए भी कविता की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हैं।"[20] यद्यपि इसके बाहरी परिणाम काव्य या आलोचना में उस रूप में नहीं दिखाई पडते हैं जो संसार से घृणा या उदासीनता में बदल जायें। सत्य प्रकाश मिश्र के अनुसार "क्योंकि 'मनुष्यसत्य' और 'भौतिकसत्य' उनके लिए एक ही चेतना के भीतर विद्यमान रहते हैं और चेतना से नकार संभव नहीं है जब तक 'अभ्यंतरीकृत विश्व' और 'साक्षात विश्व' में टकराहट न हो। टकराहट का क्षण ऊर्जा के उत्सर्जन और विसर्जन का क्षण है। यह संहार का भी क्षण हो सकता है क्योंकि कई पाश्चात्य कवियों में विशेषकर मालार्मे में जिसको साही ने उद्धृत किया है, है भी।"[21] स्वाभाविक है कि इस टकराहट के कई स्वरूप हो सकते हैं और प्रत्येक स्वरूप अपने युग के मनुष्य की स्थिति और उसके रिश्तों के परिवर्तन पर निर्भर है। इसी सन्दर्भ से नितान्त समसामयिक का तात्पर्य इसी अर्थ में टकराहट के क्षण की विद्यमानता से है।

छायावाद के सन्दर्भ में साही का मानना है कि "छायावाद में चेतना के ही दो दर्पण इस पार उसं पार रखे हुए हैं और बीच का अचित् ब्रह्मांड उनकी परस्पर छाया की तरह आभासित होता है, यह दृष्टि मार्क्सवाद के अद्वैतात्मक भौतिकवाद से भिन्न है, जिसमें प्रकृति और पुरूष के दोनों दर्पण अचित् ही है और चेतना भौतिकता के दर्पण में पली हुई छाया की तरह आभासित होती है।"[22]

छायावाद युग को 'सत्याग्रह युग' मानते हुए, छायावाद की मनोभूमि को गाँधी से जोड़ते हुए साही एक तरफ युगीन साहित्य के मूल्यांकन में अग्रसर होते हैं तो दूसरी तरफ राष्ट्रीय आन्दोलन को, उसकी प्रकृति को भी समझने का प्रयास करते हैं, जिससे 'आधुनिक चेतना' का निर्माण हुआ। इस मनोभूमि के तलस्पर्शी बनावट में

साही 'तनाव' और 'संतुलन' को बराबर खोजते रहते हैं जो साहित्य में 'अमूर्तरूप' से और समाज में 'मूर्त' रूप से व्यवहृत होता रहता है। साही साहित्यकार के दायित्व में 'साहित्यिक' तथा सामाजिक दायित्वों को एक ही मानते हैं और तनाव को सांस्कृतिक, राजनीतिक, धर्म–निरपेक्ष के विलयन में अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकार करते हैं। 'तनाव' और 'संतुलन' की दोनों दृष्टियों के कारण साही की भाषा में रूपकत्व मिलता है जिससे अर्थ में दुहरा तत्व छिपा रहता है और जो "आन्तरिकता और बाह्यता दोनों को ही समान रूप से प्रकाशित करता है। इस अर्थ में साही को सरचनावादी आलोचक भी कहा जा सकता है।"[23]

साही के 'मनोभूमि' प्रतिमान को अज्ञेय के विश्लेषण से भिन्न देखा जा सकता है। साही ने हिन्दी कविता की 'मनोभूमि' को व्याख्यायित करते हुए, उसमें पीढ़ी–दर–पीढ़ी हुए परिवर्तन को लक्षित करते हुए 'हिन्दी की दो पीढ़ीयों और युग परिवर्तन' में लिखा है कि "मैं कह चुका हुँ कि साहित्यकार अपने युग की विशिष्ट चेतना या अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है। यह पीढ़ी की पीढ़ी जिस विचित्र युग से गुजरी है, वह हीरो बनाने और हीरो पूजने का युग था।"[24] और इसी "विशेष चेतना में छायावादी कवि प्रवेश करता है। युग ने अपने चरणों की धूल उसके मस्तक पर लगा दी और देखते–देखते कवि समाज–सुधारक से हीरो बन गया। भव्यता और वैभव उसका आदर्श बन गया।........वह तूफान के साथ उड़ता है, बिजली की तरह हँसता है बादलों की तरह रोता है, दुःखी भी होता है तो घोषणा करके 'ओ अनन्त की निहारीकाओं ठहर आजो, अब माँ बदौलत दुःखी होना फरमाते हैं।' वह प्यार करता है तो अनन्त से, जागता है तो सिंह की भाँति, खड़ा होता है तो हिमालय की तरह, शस्त्र समर्पण भी करता है तो यों कि 'सिहों का समूह दिये देता है, नखदन्त आज अपना।'.......... इस दृष्टिकोण से छायावाद की भाषा में अद्‌भूत का अभ्युत्थान' करते हैं। वस्तुतः छायावादी कवि प्रिय के प्रेम में उतना पागल नहीं है जितना कि प्रेम के प्रेम में।"[25]

साही ने 'उत्तर छायावाद' की कविता को 'जवानी का काव्य' माना है। कारण कि इस काल का कवि छायावादी मनोवृत्ति से विद्रोह कर बैठता है। 'उत्तरछायावाद' की 'मनोभूमि' को समझने का प्रयास करते हुए साही इस युग को

नेहरू से जोडकर देखते हैं। 'छायावाद' से उत्तर छायावाद की हिन्दी कविता विद्रोही मानसिकता का परिचय देती है। साही का मानना है कि "हीरो कवि को यथार्थ का पहला धक्का जब लगा तो वह विद्रोही हो गया। अब वह अपना ही हीरो बनेगा। उसे किसी की चिन्ता नहीं है। वह दीवाना है, फक्कड़ है, मस्त है, जवान है, मौजी है हीरो है। अब वह कम से कम एक प्रेमिका की खोज में लगा है। – – –तुम मेरा गान गा दो तो मैं हीरो बन जाऊँ। तुम्हीं से मुझे आशा है कि मरने के बाद पीने वालों को बुलवाकर मधुशाला खुलवा दोगी। जशन–जलूस रहेगा। कुछ लोग तो मुझे याद करेगें । हीरो का विशालकाय शरीर पिघलता जा रहा है, लेकिन जलूस का अरमान नहीं गया।"[25] इसी पिघलते हीरो की आखिरी छटपटाहट 'प्रगतिवाद' की अभिव्यक्ति है। 'जलूस' की लालसा तो इस युग में भी है लेकिन उसको सिर्फ प्रेमिका की बदौलत तो नहीं इकट्ठा किया जा सकता है कुछ और करना होगा। साही के अनुसार "एक विचित्र ज्वर से आक्रान्त वह बाहर आता है। उसका चेहरा तम–तमाया हुआ है, भुजदण्ड फड़क रहे हैं, नसें उभर आयी हैं, वह चीखता है, चिल्लाता है, उछलता है, कूदता है–वह हीरो है। यह वही छायावाद का हीरो है केवल बौना हो गया, ऊँचा दिखने के लिए बैसाखियों पर सवार है सबके ऊपर सुनाई पड़ने के लिए गला फाड़ कर बोलता है। भव्यता का अरमान अभी भी जोर मार रहा है।"[26] साही इस युग को 'हीरो' युग मानते हुए इसे 'विश्वधरातल' पर खोजते हैं। साही का मानना है कि भारत ही नहीं पूरे युरोप में 'हीरो' की नैसर्गिक हवा बह रही थी। "हिटलर, मूसोलिनी, लेनिन, स्टैलिन, अत्यन्त अनास्थावान इग्लैन्ड में चर्चिल और अमेरिका में रूझवेल्ट। लड़ाई खत्म होते ही इंग्लैन्ड ने चर्चिल को समाप्त कर दिया, क्योंकि इंग्लैन्ड प्रौढ़ों का देश है। हिटलर, मूसोलिनी और तोजो गये– हीरो की नहीं, युद्ध–अपराधी की मौत। और बीसवीं शताब्दी के अन्तिम हीरो स्टैलिन का मुलम्मा उतरते हम अपनी आँखों से देख रहे हैं।"[27]

अपने युग के भारत को साही 'एण्टीहीरो' मानते हैं और इसे अपने युग का व्यापक मुहावरा स्वीकार करते हैं "जिस मोहभंग की अवस्था से हम गुजर रह हैं वह मूलतः हीरो और हीरोवाद के प्रति चरम विरक्ति का द्योतक है। यह अलग बात है कि सब इस नये टेम्पर का अभिज्ञान और विश्लेषण न कर पाते हों।"[29]

साही की आलोचना में बार–बार राजनीतिक और सामाजिक पक्षों पर चर्चा होती रहती है। उसका कारण यही है कि साही 'आलोचना' के एक ऐसे प्रतिमान की खोज में लगे रहे कि जिससे पूरा साहित्यिक युग भी परिभाषित होता जाय और परम्परा और आधुनिकता का अन्तर भी स्पष्ट होता जाय। इसीलिए उनका संघर्ष सिर्फ साहित्यिक ही नहीं बल्कि राजनीतिक, सांस्कृतिक संघर्ष भी रहा है। इसी को संदर्भित करते हुए मलयज साही को तीन सिरो वाला आलोचक मानते हैं।

वस्तुतः साही का चितन सरल चिंतन बना द्वन्द्वात्मक चिन्तन का है और साही ने इसमें कभी–कभी संतुलन स्थापित करने का प्रयास भी किया है। सरल चिंतन गॉधी की तरफ उन्मुख करता है तो द्वन्द्वात्मक चिंतन नेहरू की तरफ। साही ने जायसी के बारे में लिखा है कि "जायसी भौतिकवादियों के बीच अध्यात्मवादी हैं और अध्यात्मवादियों के बीच भौतिकवादी।"[30] यह एक जोखम भरी दृष्टि है इसी दृष्टि से साही भी जोखम उठाते हैं इसलिए उनके आलोचनात्मक प्रतिमान एक 'आंतरिक लय' से परिचालित होते हैं जिसमें कालिदास हैं तो फिरदौसी हैं, गालिब है तो अमीर खुसरो भी, जायसी, कबीर, तुलसी, सूर, हैं तो रीतिकाल के कवि भी हैं। और इसीलिए साही आलोचना के प्रतिमानों को खोजने के बजाय उसे एक साथ कई स्तर पर झंकृत होना शुभ मानते हैं। "आलोचना के लिए, चाहे वह मूल्यांकन हो या पुनर्मूल्यांकन सीधे सुधरे गिनाने जाने लायक प्रतिमान बहुत काम के नहीं होते। सबसे अधिक आकर्षक आलोचना तो वही होती है जो एक साथ बहुत से पहलुओं को उजागर करती चलती रहती है और पाठक को मूल कृति या कृतियों के बारे में एक विशिष्ट उन्मुख अवस्था में छोड़ देती है। अच्छी आलोचना इस उन्मुख अवस्था को धारदार विशिष्टता प्रदान कर देती है जो कभी–कभी प्रतिमान जैसी लग सकती है।"[31]

हिन्दी की 'आंतरिक लय' को साही कालिदास में देखते हैं। कालिदास में देखने का मतलब वेद, पुरान, स्मृति से अलग हटकर एक कवि में इसकी तलाश करना। दिलचस्प बात यह है कि अरविन्द जैसे चिंतक ने कालिदास को आध्यत्मिक विकास के भौतिक चरमोत्कर्ष का कवि माना है पर साही का मानना है कि कालिदास उस जीवन दर्शन के सबसे प्रामाणिक स्रोत है, जो हिन्दुस्तान की और

हिन्दी साहित्य की 'आन्तरिक लय' है। इसीलिए कालिदास सिर्फ साही के लिए महज ऐन्द्रिक विभूतियों के कवि नहीं बल्कि दर्शन और अनुभूति के विशिष्टताद्वैत को चरितार्थ करने वाले कवि हैं। इसी को संदर्भित करते हुए रमेशचन्द्र शाह का कहना है कि "क्या इससे निष्कर्ष निकाला जाय कि साही जी हिन्दुस्तान और दुनिया की आधुनिक सॉसत को एक साहित्यिक अनुभववाद में रिड्यूस कर रहे है? हम देखते हैं कि 'लघुमानव' वाले लेख में उन्होंने जो रीझ–बूझ गॉधी जी पर निछावर की है उससे कम सहानुभूति पण्डित नेहरू को नहीं दी है"[32] रमेशचन्द्र शाह ने साही की आलोचना विशिष्टता को गाँधी नेहरू के सन्दर्भ में देखा है जिससे 'साही' का सम्बन्ध आधुनिक काल की भाव–भूमि में उनके तल में काम करती 'मनोभूमि' से है। साही उत्तरछायावाद खासकर बच्चन – जिसे वे नयी कविता की भाव भूमि स्वीकार करते हैं – का राजनीतिक सम्बन्ध नेहरू की आत्मकथा से जोडकर देखते हैं। बच्चन और नेहरू को एक साथ देखने के पीछे उनका मंतव्य था कि छायावाद में जो 'कल्पना प्रसूत' तत्व था वह यथार्थ से दूर जा रहा था। उत्तरछायावादी कवियों ने 'यथार्थ' को उसके सम्पूर्ण कलेवर में देखने का प्रयास किया फलस्वरूप उनकी भाषा ही नहीं, शिल्प में, विचारों में भी परिवर्तन हो गया, और इसे हम छायावादी आध्यात्मिक के बजाय भौतिकवादी दृष्टि का विकास मान सकते हैं। गॉधी को अध्यात्मिकता का पुंज स्वीकार किया जाये तो नेहरू को भौतिकता का। छायावाद से उपजी विद्रोहात्मकता निराशाजन्य थी और ऐसी ही 'गॉधी इरविन' समझौते से ऐसी ही कुछ निराशाजन्य परिवर्तन की हामी भरती है, नेहरू की आत्मकथा और साही का निष्कर्ष है कि "बच्चन जी और पंडित नेहरू दोनों ही उस ध्वस्त होते हुए बास्तील की थरथराहट को महसूस कर रहे हैं। दोनों ही ठीक हैं। सिर्फ एक जगह उनकी दृष्टि गलती करती है। दुनिया में कोई वस्तु किसी का मुआवजा नहीं होती हर वस्तु अद्वितीय है, अखण्ड अपनाये से व्याप्त है।"[32]

'अँधेरे से आँख मिलाने' के मुहावरे से साही ने 'गाँधी' को हिन्दुस्तान की जिन्दगी का Rythom माना है। कारण कि गॉधी की आँखे 'अंधकार' से भी आँखे मिलाती है। और यही दृष्टिकोण गाँधी को रविन्द्रनाथ से अलग करता है। साही के अनुसार वस्तुतः छायावाद युग के अन्तर्ध्वनित सत्य के दो प्रकाश स्तम्भो रवीन्द्रनाथ

और गाँधी जी में अंधकार देखने की क्षमता का ही अन्तर था। "रवीन्द्र नाथ की आँखे आत्मा का प्रकाश तो देख सकती थी, परन्तु अन्धकार नहीं, जबकि गाँधी जी अन्धकार से भी आँखे मिला सकते थे।"[33] और यही स्थिति कालिदास और प्रेमचन्द्र की भी है क्योंकि दोनों में ही 'अंधेरे से आंख मिलाने की निर्धूम क्षमता' है जिससे एक युग से दूसरा युग संवाद सा करने लगता है।

पर्यावरण के आधार पर साही ने हिन्दी भाषा की मूल प्रकृति को पहचनाने की कोशिश की है। इसदृष्टि से साही 'प्रकृतिवादी समीक्षक' भी लगते हैं। 'उत्तर प्रदेश' की प्रकृति की बनावट को साही 'पूरवा और पछुआ' हवा के सन्दर्भ से देखते हैं। पूरवैया हवा बंगाल से आती है, जो तीन–चार महीने चलती है, पछुआ पश्चिम से आती है जो सात–आठ महीने चलती है, पुरवैया शरतचन्द्र और रविन्द्रनाथ को लाती है, तो पहुआ दयानन्द सरस्वती को। साही का मानना है कि "उत्तर प्रदेश की या साधारणतः हिन्दी भाषा की प्रकृति कुल मिलाकर संयम की अधिक है, वेग के साथ बन्धन को तोड़कर बहा ले जाने की कम। शायद कालिदास से हिन्दी ने यही सीखा है, गहरी से गहरी शराब के बावजूद भी, कल्पना की सम्पन्न से सम्पन्न उड़ानों के बावजूद भी और विलास के बंधनहीन अवसरों में भी कालिदास की आंखे नहीं झपकती।"[34]

साही ने कालिदास के उत्तराधिकार के रूप में हिन्दी साहित्य की मूल प्रकृति को पकड़ लिया है क्योंकि महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्रशुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त की प्रकृति भी उपर से रूखी–सुखी अन्दर से मुलायम की ही रही है। और यह 'पूरवैया और पछुआ' का संयोजन ही है। तटस्थ आंखों से देखने की क्षमता ही कवि को महान बनाती है यह क्षमता सिर्फ कालिदास में ही नहीं, हर युग के महान रचनाकार में होती है। तुलसीदास–साही के मुताबिक मध्ययुग के दयानन्द सरस्वती है – सूरदास में भी यही क्षमता थी और प्रेमचन्द्र में भी। कालिदास की इसी परम्परा को प्रेमचन्द्र से जोड़ते हुए साही हिन्दी भाषा के प्राकृतिक पर्यावरण को गहराई से समझते हैं और स्वीकार करते हैं कि "हिन्दी की कल्पना चेरापूँजी की जल थल करने वाली वर्षा से उदभूत कल्पना नहीं है, उसका सौधापन आषाढ़ के पहले दिन तप्त धरती पर पड़ी हुई बूंद जैसा है। जिन राष्ट्रीय परिस्थितियों ने बंगाल में शरत

चन्द्र को जन्म दिया, उन्होंने हिंन्दी में प्रेमचन्द्र को, कहने में जैसा भी विरोधाभास लगे लेकिन प्रेमचन्द की आँखे कालिदास के अधिक निकट हैं। होशों हवास की दुरस्ती की एक सीमा है जिसके बाहर छायावादी कवि निराला और प्रसाद भी कदम नहीं रखना चाहते। शरत् बाबू के देवदास की तरह प्रसाद के कंकाल का 'विजय' भी आदिम भावनाओं द्वारा ग्रस्त है, लेकिन भावना के उन तिमिराच्छन्न प्रदेशों का सफर नहीं करता जहाँ से बंगाल के लेखक की यात्रा शुरू होती है।"[35]

यह वही 'कालिदासीय लय' है जिससे साही आधुनिक काल को ही नहीं उसके राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक सन्दर्भों से परखते हैं, बल्कि फिरदौसी से लेकर कालिदास के मध्य में हिन्दी को रखकर उसके 'धर्म निरपेक्षता चरित्र की खोज करते हैं। फिरदौसी का महत्व इसलिए है कि अरब–प्रसूत इस्लाम को स्वीकार करने के बाद भी वह अपने देश ईरान के 'कयानी' राजाओं के पक्ष में खड़ा मिलता है। तात्पर्य यह कि वह धर्म के बजाय राष्ट्र की गौरवगाथा गाता है। साही पूछते हैं कि आखिर 'क्यों ऐसा हुआ कि मुस्लिम भारत में किसी भारतीय फिरदौसी को जन्म नहीं दिया?"[36] यह भी सच है कि फिरदौसी जैसी हवाएं हिन्दी ही नहीं, पंजाबी, काश्मीरी आदि बोलियों में भी चलती हैं। हीर–राझाँ, सोहनी महीवाल, सस्सी पुन्नों, पद्मावत आदि लोक भाषा में रचित ग्रन्थ हैं। लेकिन वह उड़ान नहीं मिलती जो फिरदौसी जैसी हो, आखिर ऐसा क्यों है? क्योंकि "फिरदौसी और उसके शाहनामा के प्रवाह का मतलब सिर्फ दूर से झलकने वाली निर्मल मोहिनी और चंचल लोकगाथा नहीं है। वह कुछ और है। वह एक ऐसा प्रभाविक रचनाविधान है जो एक ही बहाव में लोक संस्कृति और उच्च्य संस्कृति दोनों को इस तरह जोड़ देता है कि अंतर मिट जाता है।"[37] और हिन्दी की प्रकृति में ऐसा तत्व नहीं मिलता जिसमें लोकसंस्कृति और उच्चसंस्कृति को जोड़ दें, पद्मावत को छोड़ कर। साही की विशेषता रही है कि वे प्रश्नों को पूछते रहते हैं कोई उत्तर नहीं देते। उनका प्रयास रहता है कि पाठक स्वयं निर्णय करे। साही पाठक के ऊपर अपना निर्णय नहीं थोपते क्योंकि उनके लिए आलोचना का काम साहित्यिक समझ विकसित करना है, निर्णय करना नहीं।

साही के लिए एक तरफ फिरदौसी है तो दूसरी तरफ कालिदास। संस्कृत साहित्य का महत्व कितना है यह अमीर खुसरों के इस व्यक्तव्य से प्रमाणित है कि "मैने इसकी एक बूंद चखी है और मालूम हुआ कि 'घाटी में खोया हुआ पक्षी महानदी के विस्तार से अब तक बिल्कुल वंचित रहा है।'[38] इसी संस्कृत साहित्य के महान साहित्यकार कालिदास को पहचानते हुए साही कहते हैं "पराक्रमी पुरखों से लेकर आखिरी क्षय तक कालिदास जिस तटस्थ भाव से समूचे रघुवंश की तस्वीर हमारे सामने रखते हैं वह न केवल धर्मनिरपेक्ष है बल्कि कुछ हद तक नीति–निरपेक्ष भी लगती है।"[39] और "यही दोनों मध्यकाल में दूर पर झलकते हैं सम्भावना की तरह और बीच के मैदान में हिंदी भाषी उत्तर भारत का काव्य जन्म लेता है।"[40]

मध्यकाल में लोकभाषा यानी की ब्रज, अवधी काव्यभाषा बनती है। ब्रज सूर से अनुप्राणित होती है तो अवधी तुलसी से। लेकिन इनके पूर्व कबीर और जायसी भी आते हैं। 'जायसी' की 'मानुष कवि' खोज की पहली पहचान साही 'धर्मनिरपेक्षता' की कसौटी पर ही करते हैं। जिस 'आन्तरिक लय' से साही फिरदौसी और कालिदास के साथ मध्ययुग के हिंदी साहित्य को जोड़ते हैं, उसी 'लय' के साथ 'मध्ययुग' को आधुनिक युग से। जायसी से निराला को। बीच में रीतिकाल भी है, भारतेन्दु भी हैं। कुल मिलाकर साही ने साहित्य को इतिहास के पन्ने से देखने के बजाय 'इतिहास निर्माण' की प्रक्रिया से देखा है। जिससे साही काव्यभाषा से लेकर चितंन के बदलाव की भाव भूमि को पकड़ने को कोशिश करते हैं। निष्कर्षतः निश्चित तौर पर एक 'प्रतिमान' नहीं बन सकता। इसीलिए उनकी आलोचना तार्किक, विश्लेषणात्मक होने के बावजूद खंडित सी जान पड़ती है बकौल मलयज "साही की आलोचना का आकाश खण्डित है।"[42] खण्डित होने का कारण है कि साही 'बहस' यानी की वाद विवाद से उपजे संवाद के आलोचक रहे हैं। यह और बात है कि संवाद का स्वर कभी धीमा कभी तेज होता रहा है। साही की आलोचना की यही सीमा भी है और सामर्थ्य भी।

'जायसी और कबीर', जायसी और सूर–तुलसी'। साही इन्हीं दो बिन्दुओं से मध्यकाल के हिंदी साहित्य को परखते हैं। भक्तिकाल बहुधर्मी चरित्रवाला काल रहा है। लेकिन प्रमुख धर्म था – हिन्दू और इस्लाम। कबीर और जायसी में अन्तर स्पष्ट

करते हुए साही कहते है कि "कबीरदास की चिंता थी कि कोई ऐसा आध्यात्म बनाया जाय, जिसमें कोई पौराणिकता हो ही नहीं। न दशरथ हो, न देवी देवता हो – कोई न हो, केवल आध्यात्म हो।' मिथकों को नकारो मत क्योंकि उनके कारण बहुत प्रकार के लोगों के जीवन में रंगीनियां आती है। उन रंगीनियों को हम नकारे नहीं केवल उसको तरल कर दें। तो झगड़ा खत्म हो जायेगा, इस बात की चिंता जायसी को थी।' इसीलिए जायसी का तरीका जैसा शुक्ल जी ने बिल्कुल ठीक कहा है, स्वीकार करके चलने वाला है और कबीरदास का नकार करके चलने वाला।"[42] स्वीकार के कवि 'जायसी' को साही धर्म निरपेक्षता का प्रतिमान मानते हैं और उसके लिए "इतिहास में डूबकर इतिहास से उबारने वाला अर्थ लेकर बाहर आते हैं।[43] इतिहास से उबारने वाला अर्थ ही 'मानुष चेतना' है जिसके मूल स्वर को पहचानने की कोशिश साही बार–बार करते हैं। क्योंकि 'जायसी का प्रस्थान–बिन्दु न ईश्वर है, न कोई नया अध्यात्म है। उनकी चिन्ता का मुख्यध्येय मनुष्य है– मनुष्य जैसा कि वह सामान्य जिंदगी में उठता बैठता है, सीखता है, प्रेम करता है, गृहस्थी चलाता है, युद्ध में वीरता और कायरता दिखलाता है, राज्य स्थापित करता है, छल कपट बेईमानी और कमीनापन करता है, सम्प्रदाय स्थापित करता है बटोर करने के लिए नारे लगाता है – और इस सबके बाद अपनी पर्याप्तता की गहरी त्रासदी से ग्रस्त हो जाता है।"[44]

एक तरह से यह साही के चिंतन का भी प्रस्थान बिन्दु है। बार–बार साही 'साहित्य' को परिभाषित करते रहते हैं। उसका कारण यही है कि वे बार–बार बदलते मनुष्य की मनोभूमि को पकडने की कोशिश करते हैं जो साहित्य में क्रिया प्रतिक्रिया के रूप में उपस्थित होता रहता है। कमला प्रसाद के अनुसार "विजयदेव नारायण साही आलोचक के रूप में जीवन भर यह समझने की कोशिश करते रहे कि साहित्य का उद्देश्य क्या है? वे चाहे साहित्य क्यों, लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस, सत्ता संस्कृति, जनवादी साहित्य में से कोई निबन्ध लिख रहे हों या साहित्य और साहित्यकार का दायित्व' विषय पर व्याख्यान दे रहे हों – वे साहित्य से अपनी अपेक्षा ही खोजते रहे।"[45]

"साहित्यकार का दायित्व' में साही एक तरफ विचारधारा परक साहित्य को मूल साहित्य की श्रेणी में नहीं मानते है तो दूसरी तरफ कवि के लिए चार अन्तर्ध्वनियॉ की वकालत करते हैं। ये चार अन्तर्ध्वनियाँ हैं–"सामाजिक चेतना, पारिवारिक चेतना, मानवीय चेतना और ब्रह्माण्ड व्यापी चेतना।"[46] इन चारों अन्तर्ध्वनियों को साही कवि में बराबर का स्थान देते हैं। उनका मानन है कि अगर एक ही अन्तर्ध्वनि कवि पकडेगा तो उसकी दृष्टि भिन्न हो जायेगी।

साही ने 'काव्यभाषा' के बदलाव को भी बार–बार रेखांकित किया है। 'काव्यभाषा' को लेकर साही द्वारा रीतिकाल की कविता का जो विश्लेषण किया गया है वह विवादास्पद होते हुए भी महत्वपूर्ण है। साही का मानना है कि "एक स्तर पर भाषा, विचार और साहित्य ये भिन्न नहीं रह जाते और जैसे–जैसे उनमें घनत्व बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे लेखक जो उस भाषा से दिन–रात उलझ रहे हैं, उनके अनुभव समाज के लिए बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। भाषा के स्वरूप के लिए भी महत्वपूर्ण होते हैं – उस भाषा में बोलने वालों के लिए भी महत्वपूर्ण होते हैं।"[47] साही की आलोचना की एक खास विशेषता रही हैं – वर्तमान से भूत की और वर्तमान से भविष्य की थाह। वस्तुतः साही किसी भी युग को समझने के लिए उसके राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक कुल मिलाकर ऐतिहासिक सन्दर्भों को जानना आवश्यक मानते हैं। इसीलिए साही के विवेचन में 'काव्यभाषा' का अलग संसार है जिससे प्रतिध्वनित होकर उनकी आलोचना सारगर्भित हो जाती है। कविता की रचना प्रक्रिया से गुजरने का तात्पर्य साही के लिए काव्यभाषा से गुजरना है। शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट में खोज मूलतः 'काव्यभाषा' की ही खोज है। साही के अनुसार "कविता शब्दों और शब्दों का संयोग से नहीं बनती बल्कि शब्दों का जाल जो यथार्थ पर फेंका जाता है, उससे बनती है। यह फेंका हुआ जाल ही अर्थ है। और अगर यथार्थ स्थिरता नहीं गत्यात्मकता प्रक्रिया है तो शब्दार्थ को भी गत्यात्मक प्रक्रिया होना पड़ेगा।"[48] सामान्य भाषा से काव्यभाषा में परिवर्तन को शमशेर के लक्षित करते हुए सन्दर्भ से साही कहते हैं कि "शब्द जो जड़ थे सहसा पोले पड़ने लगते हैं। शब्द की जड़ अवस्था वह है जो उनको रूढ़ अर्थों के पाश में बाँधती है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध एक अचल स्थिरता की तरह परिभाषाबद्ध हो

जाता है। उनके पोले पडने का मतलब है कि अर्थ को परिभाषा के तात्विक कैवल्य की भाँति नहीं, बल्कि प्रक्रिया की तरह देखा जाय। तब शब्द के पाश टूटते लगते हैं और वे परिभाषा का अर्थ नहीं जीवन की अनुभूति का अर्थ देते हैं।"[49]

रीतिकालीन कविता को हिंदी आलोचकों ने सामाजिक सन्दर्भों से हीन माना है। वस्तुतः विलास प्रधान काव्य होने के कारण इस युग की कविता में वह तेजस्विता नहीं है, जो भक्तिकाल की कविता में मिलती है। पर साही इसके उलट अपना मंतव्य स्पष्ट करते हैं। साही का मानना है कि "ब्रजभाषा कवियों ने सबसे बडा कमाल यह किया कि जब एक ओर राजनैतिक एकता टुकडे–टुकड़े हो रही थी उन्होंने आज जो हिन्दी भाषा क्षेत्र कहलाता है, इस पूरे क्षेत्र के लिए बडे मनोयोग से एक सर्वमान्य भाषायी माध्यम निर्मित कर डाला। इतना ही नहीं उसे परवान भी चढाया। पूरे क्षेत्र को एक समान रूचि और भाव–भंगिमा दी। और लोक भाषा में तराश और प्रगल्भता की वह गति खोज निकाली जो न सिर्फ सात समुन्दर पार उसी समय के अंग्रेजी मेटाफिजिकल कवियों की बौद्धिकता जैसी लगती है, बल्कि बात पैदा करने में उससे आगे भी निकल जाती है। पंजाब से लेकर मिथिला तक और काश्मीर से लेकर सतारा तक का हृदय एक तरह धड़काना सिर्फ दरबारी विलासिता की विमूढ रूपवादिता के बूते का काम नहीं, कुछ और है जो बिहारी के दोहों को बाँकी मुस्तैदी और घनान्द के स्वर को कसकता हुआ पकापन देता है।"[50] रीतिकाल की एकतान भाषा का स्वर भक्तिकाल की कविता से भिन्न है। भक्तिकाल में कविता का सामाजिक दायरा अधिक विस्तृत है लेकिन ऐसा कुछ है जो पूरे काल को एक सूत्र में नहीं बाँध पाता। साही के अनुसार "समूचाभक्ति काव्य विशेषतः श्रेष्ठकाव्य है, फिर भी स्थानीय बोलियों में बंटा दिखता है। मीरा राजस्थानी में लिखती है, विद्यापति मैथिली में, कबीर दास अनगढ़ खिचड़ी में, सूरदास ब्रज में, तुलसीदास अवधी में यहाँ तक कि प्रतिभा के धनी खानखाना भी कई आवाजों में बोलते हैं। इतना ही नहीं सूरदास बहुत बड़े कवि हैं, रीति कवियों से कहीं बड़े लेकिन उनकी कविता में बराबर लगता है कि एक महान् प्रतिभा अपने को ब्रजभाषा में अभिव्यक्त कर रही है। जब कि रीतिकाव्य में लगता है कि कवियों से अलग ब्रजभाषा की अपनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति हो रही है। भाषा की अपनी प्रतिभा की

प्रकार मिश्र का कहना है कि "मेरी राय में साही इसका कारण जिस मनोभूमि को मानते हैं उसमें वह औपनिवेशिकता भी शामिल है। जो इस भाषा में इस प्रकार के वर्गाश्रयी प्रयोगों को अनजाने पैदा करती है। फ्रान्ज फेनान ने 'रेचेड आफ दि अर्थ' में राष्ट्रीय सस्कृति का विवेचन करते हुए इस प्रकार की बाधा और चालाकी का उल्लेख किया है। भाषा में एकतान प्रसार में आंचलिकता का यह प्रयोग औपनिवेशिकता के निशानों के रूप में पाया जाता है।"[54] साही ने 'आंचलिकता' में छविमयता और सिलवटों की भाषा का विरोध किया। 'छविमयता और सिलवटों की भाषा' को महत्वपूर्ण न मानने का कारण इसलिए है कि इससे साहित्य में एक तरह की वर्गाश्रयी मानसिकता उभरती है।

प्रेमचन्द्र के उपन्यासों की आंचलिक उपन्यासों खासकर रेणु के मैला आंचल से तुलना करते हुए साही कहते हैं कि "आंचलिकता दृष्टि और वर्णन शैली में शब्दावली के आपसी रिश्ते में निहित होती है।"[55] इसीलिए प्रेमचन्द के उपन्यासों में आंचलिकता नहीं है "क्योंकि उनके गाँवों की कोई स्वतः सम्पूर्ण सत्ता इस आधार पर नहीं बनती कि जीवन का मौलिक उद्‌भावना ही यहाँ पाठक के जीवन मूल्यों से अलग स्तर पर हो। उनके गांव पूरे समाज के अंग है, स्वतः सम्पूर्ण छविमय समाज नहीं।"[56] जबकि 'मैला–आँचल' में खडी बोली बनाम लोकबोली का एक नया संसार रचने का प्रयास मिलता है। तात्पर्य यह कि रेणु के "मैला–आँचल में वर्णन शैली में ही हमें दो दृष्टियों का बोध होता रहता है – एक खड़ी बोली द्वारा अभिव्यंजित वह जीवन स्तर जो अप्रस्तुत है, लेकिन जहाँ से दूरबीन लगाकर पाठक और लेखक दोनों ही उस अंचल को देखते हैं, दूसरे आंचलिक शब्दावली द्वारा चित्रित भिन्न स्तर पर बीतता हुआ वह छविमय जीवन जिनकी शर्तें बिल्कुल अलग है। हम बराबर उस खाई से अवगत रहते हैं जो खड़ी बोली में स्थित पाठक एवं वर्णनकार को आंचलिक शब्दावली में स्थित आंचलिकता समाज से अलग करती है।"[57]

आंचलिक शब्दावली का गीतिमय व्यापार मुख्यतः तीन तत्वों पर आधारित होता है, खाई, चेतना की स्वतन्त्रता सत्ता और यथार्थ की अविकल छविमयता'। 'नदी के द्वीप' को आंचलिक मानने का कारण अन्य तत्वों के अलावा प्रमुख कारण छविमयता, 'सिलबटों की भाषा' है। साही लिखते हैं कि "अज्ञेय के 'नदी के द्वीप'

को आंचलिक कहना शायद अनुचित है या आकस्मिक जान पड़े। वह किसी भौगोलिक अंचल की कथा नहीं है। लेकिन यदि हम आंचलिकता को कथाकार की दृष्टि से सम्बद्ध मानें और परिभाषा के अनुसार कटे हुए, अपने आप में बन्द, स्वतः सम्पूर्ण समाज की उद्भावना और छविमयता को उसकी कसौटी माने तो आचंलिक दृष्टि के तत्व उसमें मिलेंगे। एक अर्थ में उसके मुख्य पात्र केवल व्यक्ति या वर्ग विशेष नहीं है – वे मिलाकर एक अलग 'समाज' का निर्माण करते दिखते हैं। बेशक इस समाज की स्वतः सम्पूर्णता उतनी चरम नहीं है जितनी 'मैला आंचल' के समाज की। वस्तुतः इस समाज का समाज न बनकर जगमगाते द्वीपों की तरह विखर–विखर जाना ही कथाकार का महत्वपूर्ण कथा है। मगर इसके पीछे उपन्यास–कार की मौलिक तलाश ही है जो खाई के उस पार अन्य मूल्यों पर आधारित एक भिन्न सामाजिकता की छविमय सम्भावना को देखना चाहती है। दीपक की लौ की तरह इस सम्भावना का अस्तित्व और निर्वाण एक ही प्रक्रिया का नाम है जो इस ज्योतिर्मय 'दुखभरी कहानी' को जन्म देती है। इस अर्थ में नदी के द्वीप में आंचलिकता का आभास होता है – खाई, चेतना की स्वतन्त्र सत्ता और यथार्थ छविमयता। ध्यान में रखना जरूरी है कि आचंलिकता इन पात्रों में थी उनके सामाजिक वर्ग में नहीं है, बल्कि उनके वर्ग की ओर जो कथाकार की विशिष्ट उन्मुखता है, उसके कारण है। इन्हीं पात्रों की कहानी बिना आंचलिकता के भी कही जा सकती थी जिस तरह पूर्णिया जिले के किसानों की कहानी प्रेमचन्द्र की तरह बिना 'छविमयता' के कही जा सकती थी। व्यर्थ विवाद से बचाने के लिए हम इस दृष्टि को 'अर्ध आंचलिकता' या द्वीपभावी या कोई अन्य नाम दे दें। मेरा मूल आग्रह उस खाई पर है जो इस कथा के सौन्दर्य बोध का अभिन्न अंग है।"[58]

वस्तुतः साही ने नदी के द्वीप को जिस 'मनोभूमि' के तहत देखा है उसमे अज्ञेय की सृजनशीलता की समझने में ही नहीं, बल्कि सृजनशीलता किस तरह तथ्य को रागात्मकता से दीप्त करती है पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

जिस तरह से साही आंचलिकता को परिभाषित करते हैं उससे तो सारा का सारा हिन्दी कथा साहित्य आंचलिकता ही माना जा सकता है। साही इस बात को स्वयं स्वीकार भी करते हैं, लेकिन वे कथा साहित्य की भर्त्सना नहीं करते, परन्तु

अन्ततः परिणाम तो यहीं निकलता है। पर सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि साही आलोचक की दृष्टि से मूल्यांकन का एक मानदण्ड विकसित करते हैं, जिसे किसी भी विधा पर लागू किया जा सकता है। सत्यप्रकाश मिश्र भी इससे सहमत होते हुए कहते है कि "नरेश मेहता, शैलेश मटियानी और लक्ष्मीकान्त वर्मा भाषा के मंत्रत्व की जब बात करते हैं तो उनका भी तात्पर्य वस्तुतः उस माध्यमहीनता से ही है, जिसे एक स्तर पर साही भी चाहते हैं, समाप्त हो जाय, अर्थात् भाषा न रहकर वाणी हो जाए। इसे धार्मिक दृष्टि कहा जा सकता है परन्तु धार्मिकता केवल साम्य नहीं, वह एक विश्वास है, जो टी०एस० इलियट में है, वात्स्यायन में नहीं। इसीलिए टी०एस० इलियट की निर्वेयक्तिक धार्मिकता धार्मिक है, और वात्स्यायन की वैज्ञानिक। इसे 'भाषा की जादूई शक्ति' के रूप में समझने से भ्रम उत्पन्न होता है क्योंकि यह प्रक्रिया रचना के भीतर से समग्रता में ही ध्वनित होती है और साही रचना को उसकी समग्रता में देखने की पद्धति में विश्वास करते हैं, जिसे समाज व्यक्ति समाज की भाँति सम्पूर्णता–खण्ड सम्पूर्णता के रूप में समझा जा सकता है।"[59]

सत्यप्रकाश मिश्र ने 'साही' की मनोभूमि को उनकी आन्तरिक लय को सही पकडा है। साही का स्वयं का निष्कर्ष है जो मूलतः उनके 'भाषा' के प्रतिमान के रूप में हैं "सृजन के अन्तिम छोर पर कला का संदर्भपूर्ण स्वातत्य है। भाषा के कृतिकार के दायित्व की कसौटी यह नहीं होगी कि जिस–भाव–सन्दर्भ को उसने चुना उसके उपयुक्त भाषा की चूल बैठायी या नहीं, बल्कि यह कि भाषा का जो दाय उसे पूर्वजों से मिला था उसके साथ वह क्या कर सकता था और क्या उसने किया, किन सन्दर्भों का निर्माण वह कर सकता था और किनका उसने किया।"[60]

भाषा के लिए यह प्रतिमान उनकी सम्पूर्ण आलोचना में 'खोज' के विषय के रूप में है। इस दृष्टिकोण से साही की उस मानसिक बनावट की भी 'खोज' होती रहती है जो उन्हें बारम्बार लकीर के आगे कुछ भरना चाहिए – के लिए प्रेरित करती है। इतिहास जो बीच चुका है साही के लिए बस इतना ही नहीं है, बल्कि उसमें वृद्धि करना भी दायित्व है। इसीलिए 'साही' के प्रतिमान की दुनिया इकहरी नहीं है, बल्कि ग्रहीत ज्ञानराशि के संयोजन परीक्षण से निर्मित बहुस्पर्शी दुनिया है। आलोचक के रूप में साही 'साहित्य और मुनष्य' की क्रिया–प्रतिक्रिया–जिसमें क्रिया

का तत्व अधिक है से समाज को समझने का प्रयास करते है और इसलिए साहित्य को समझने के लिए मनुष्य के समस्त कृतित्व को समझना आवश्यक मानते हैं। साही के समाजवादी चितन में समाजवादी दृष्टि के साथ–साथ साहित्यिक दृष्टि भी बराबर 'सृजनशीलता' के लिए उत्प्रेरित करती है। व्यापक अध्ययन, गहरी अर्थ मीमांसा युक्त अनुभव और वैज्ञानिक तार्किक दृष्टि के साथ–साथ हिन्दी, फारसी अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा का ज्ञान सब मिलकर एक ऐसी बौद्धिक अर्न्तदृष्टि विकसित करते हैं जिससे वे रचना के मर्म को समझकर उसे अपने तर्क से सिद्ध करने में सक्षम होते हैं। इसीलिए सत्य प्रकाश मिश्र का कहना है कि "वे राजशेखर के 'आरोवकी' और 'तत्वाभिनिवेशी' के मिले–जुले रूप थे। या रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी दोनों थे।"[61]

फूटनोट

1. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 212
2. मार्क्स गॉधी एण्ड सोशलिज्म – राममनोहर लोहिया पृ० 137
3. अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषांक सं० राजेन्द्र कुमार पृ० 88
4. वर्धमान और पतनशील – विजयदेव नारायण साही पृ० 83
5. साहित्य क्यों ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 23
6. साहित्य क्यों ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 23
7. जायसी – विजयदेव नारायण साही पृ० 65
8. अभिप्राय (पत्रिका) – विजयदेव नारायण साही पृ० 94
9. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 273
10. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 261
11. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 260
12. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 260
13. अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषांक सं० राजेन्द्र कुमार पृ० 68
14. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 261
15. अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषांक सं० राजेन्द्र कुमार पृ० 97
16. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 260
17. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 260
18. साहित्य क्यों ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 19–20
19. तीसरा सप्तक – संम्पादक अज्ञेय पृ० 182
20. अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषांक सं० राजेन्द्र कुमार पृ० 98
21. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 208
22. अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषांक सं० राजेन्द्र कुमार पृ० 100
23. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 119
24. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 120
25. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 120
26. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 121
27. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 121
28. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 121
29. जायसी – विजयदेव नारायण साही पृ० 91
30. पूर्वग्रह (पत्रिका) – साही विशेषांक सं० रमेशचन्द्र शाह पृ० 59
31. साहित्य क्यों ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 27
32. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 314
33. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 284
34. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 271–72
35. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 272
36. साहित्य क्यों ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 43
37. साहित्य क्यों ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 43

38. साहित्य क्यों ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 44
39. साहित्य क्यों ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 44
40. साहित्य क्यों ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 44
41. पूर्वग्रह (पत्रिका) – साही विशेषांक सं० रमेशचन्द्र शाह से उदघृत पृ० 60
42. वर्धमान और पतनशील – विजयदेव नारायण साही पृ० 103
43. पूर्वग्रह (पत्रिका) – साही विशेषांक सं० रमेशचन्द्र शाह पृ० 61
44. जायसी – विजयदेव नारायण साही पृ० 62
45. अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषांक सं० राजेन्द्र कुमार पृ० 67
46. साहित्य और साहित्यकार का दायित्व – विजयदेव नारायण साही पृ० 54
47. साहित्य और साहित्यकार का दायित्व – विजयदेव नारायण साही पृ० 30
48. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 218
49. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 217
50. साहित्य क्यों ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 90
51. साहित्य क्यों ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 90–91
52. अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषांक सं० राजेन्द्र कुमार पृ० 108
53. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 224
54. अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषांक सं० राजेन्द्र कुमार पृ० 109
55. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 224
56. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 224–25
57. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 224–25
58. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 226–27
59. अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषांक सं० राजेन्दग्र कुमार पृ० 110–11
60. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 257
61. अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषांक – सं० राजेन्द्र कुमार पृ० 121

पंचम अध्याय

विजयदेव नारायण साही की सांस्कृतिक दृष्टि

किसी भी रचनाकार में–चाहे वह कविता लिख रहा हो, कहानी, उपन्यास, नाटक लिख रहा हो–चाहे वह इन सभी विधाओं की आलोचना कर रहा हो उसके विचारों की भावभूमि को पकडने का सबसे सशक्त माध्यम उसकी 'सांस्कृतिक दृष्टि' होती है। 'सांस्कृतिक–दृष्टि' से न सिर्फ उसके विचारों की भाव–भूमि का पता चला है बल्कि उसके यथार्थवादी रचनात्मकता से सम–सामयिक 'रचना दृष्टि' को भी परखने का मौका मिलता है। किसी भी आलोचक की 'सांस्कृतिक–दृष्टि' को परखने का मतलब होता है कि उसके संस्कृति, मानवता, वर्ण–व्यवस्था, जाति व्यवस्था राष्ट्रीयता, काल, प्रकृति, समाज को देखने की दृष्टि को परखना। इस दृष्टि से अगर विजयदेव नारायण साही की 'सांस्कृतिक–दृष्टि' को परखने का पैमाना उपयुक्त तत्वों को बनाया जा तो साही की सांस्कृतिक 'दृष्टि' को परख पाना मुश्किल है।

'साही' एक कवि, आलोचक चिन्तक होने के साथ–साथ एक राजनैतिक व्यक्तित्व के भी पुरोधा रहे हैं। साही के लिए राजनीति और साहित्य के सम्बन्धों की परख उधार की अनुभूति नहीं रही है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है साही ने समाज को सिर्फ एक साहित्यकार की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि एक राजनीतिक दृष्टि से भी देखा–परखा। इन्हीं 'मनोभूमियों' की भाव–भूमि से साही के 'सांस्कृतिक–दृष्टिकोण' को देखना उपयुक्त होगा।

साही राजनीति में 'लोहिया' के सहयोगी रहे हैं। 'लोहिया' की समाजवादी राजनीति में पूर्ण आस्था रही है। 'लोहिया' के विचारों की छाप साही में अक्सर पडती मिलती है, तो स्वभाविक है कि लोहिया की सांस्कृतिक दृष्टि को केन्द्र में रखकर साही की दृष्टि को समझा जा सकता है। पिछले अध्याय में मैं बता चुका हूँ कि साही का मार्क्सवादी दृष्टिकोण से साहित्य को परखने वालों से वैचारिक मतभेद बराबर बना रहा। साही साहित्य में किसी 'वाद' के आधार पर रचना करने वालों को साहित्यिक की श्रेणी में नहीं रखते।

राजनीति में साही के गुरू लोहिया मार्क्सवादी विचारधारा से विरोध रखते रहे। दरअसल यह विरोध किसी पूर्वग्रह वश नहीं था बल्कि शुद्ध भारतीय चितंन

परम्परा से ओत–प्रोत होने के कारण था। साही में इसे 'भारत–विम्ब' के रूप में देखा जा सकता है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि भारत का लोकनायक वही हो सकता है जिसमें समन्वय की विराट् चेष्टा हो। इस दृष्टि से गाँधी में यह क्षमता रही है, नेहरू में रही है, बहुत हद तक लोहिया मे भी। इन सभी विचारकों ने संस्कृति में समन्वय की बात कही है लेकिन लोहिया के बहुत से विचार सहमति की विचार–पद्धति पर आधारित हैं तो बहुत से समन्वय की पद्धति पर। सहमति और समन्वय में अन्तर होता है। इस दृष्टि से साही के साहित्यिक अवदानों को देखा जाय तो साही 'सहमति' सिद्धान्त के प्रखर विरोधी रहे हैं। 'समन्वयवाद' की परिकल्पना भी शायद उस रूप में नहीं मिलती जैसा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तावित किया है। मेरा मकसद यहाँ लोहिया की राजनीति को साही के साहित्य में परखने का नहीं है, सिर्फ यह रेखांकित करने का प्रयास है कि साही अपने सहयोगियों के साथ कैसे उस मनोभूमि को परखते रहे हैं जिसमें फिरदौसी भी हैं, जायसी भी हैं, कालिदास भी हैं तो प्रेमचन्द भी हैं।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने साही के व्यक्तित्व को परखते हुए लिखा है कि "साहित्य में साही के होने का मतलब ही था चुनौती का होना"[1] चुनौती के ही स्वर में साही ने बार–बार भारत में 'हिन्दू–मुस्लिम' दो संस्कृतियों को समझने का प्रयास किया है। बार–बार वे इस प्रश्न से जुझते हैं कि आखिर वह कौन सा रास्ता है जिससे दोनों संस्कृतियों का आपस में सामंजस्य बैठ सकता है। वस्तुतः यह 'समन्वय की विराट् चेष्टा' का ही मुहावरा है। 'धर्म निरपेक्षता की खोज में हिन्दी साहित्य और उसके पड़ोस पर एक दृष्टि' से साही ने 'दिनमान' में तीन लेखों की लेखमाला लिखी है। जिसमें साही ने साफ–साफ कहा है कि "धर्म निरपेक्षता कोई परिभाषित प्रत्यय नहीं है। बल्कि यह प्रक्रिया है।"[2] बीसवीं शताब्दी के मुहाने पर भारतीय जनता–जिसमें हिन्दू भी थे, मुसलमान भी थे, का अंग्रेजों के विरूद्ध जो संघर्ष चल रहा था उसमें धीरे–धीरे दरार पड़ने लगी थी। उस दरार को भरने का अथक प्रयास किया महात्मा गाँधी ने। लेकिन सारी कवायद के बावजूद 1947 में भारत पाकिस्तान का बँटवारा हो गया। यह बॅटवारा सिर्फ दो राष्ट्रों का ही नहीं था

बल्कि दो संस्कृतियों की असफलता भी थी। साही ने इस दौर को केन्द्र में रखकर मध्यकाल की उस युग–भूमि को देखने का प्रयास किया है जब मुगल बादशाहों ने भारत में अपनी सत्ता स्थापित की। क्या वह दौर भी ऐसी ही मनः स्थितियों से नहीं गुजर रहा था? साही की सारी 'उधेड–बुन' इन्हीं दो संस्कृतियों के टकराव और उसके समन्वय को लेकर है।

साही का मानना है कि "हिन्दुस्तान मे धर्मान्ध और धर्मनिरपेक्ष तत्वों की 'उधेड़बुन' करने पर दो तरह की प्रक्रियाएं सामने आती है। एक प्रक्रिया तो खासतौर पर हिन्दू मुस्लिम रिश्तों को लेकर चलती है। इस स्थित में टकराव भी है, समझौता भी है। विभाजन भी है, समन्वय भी है। यह प्रक्रिया बहुत पुरानी है। इसकी जड़े हमारे मध्यकाल में है।"[3]

मध्यकाल में इन दोनों संस्कृतियों की जड़ों की खोज में ही साही 'जायसी' तक पहुँचते हैं। आखिर जायसी ही ऐसे क्यों मिले? कबीर भी थे, सूर भी थे, तुलसी भी थे? साथ ही दूसरा सवाल उठता है कि भारत में 'संस्कृतियों' की यह टकराहट सिर्फ 'भक्तिकाल' में ही हो, ऐसा तो नहीं है। इसके पूर्व भी भिन्न–भिन्न संस्कृतियों की टकराहट होती है? दरअसल साही के सामने मुख्य प्रश्न हिन्दू–मुस्लिम की एकता का था। 47 की आजादी के बाद जब दो देशों का निर्माण दो संस्कृतियों के आधार पर हुआ, तो वहाँ भी प्रश्न 'हिन्दू–मुस्लिम' का ही था, हूणों, शकों का नहीं। यही नहीं 'अंग्रेजी' मनोभावों का भी नहीं था। क्योंकि कहीं न कहीं भारतीय जनमानस यूरोपीय संस्कृति में समन्वय करने में सफल हो गया था। यह अलग बात है कि इसमें तत्वों के सम्मिश्रण का अनुपात कुछ गड़बड़ है। धर्मनिरपेक्षता की खोज में 'जायसी' तक पहुँचने का कारण साही के लिए सिर्फ इसलिए नहीं था कि जायसी मुसलमान थे और कविता अवधी में करते थे। बल्कि वह चेतना थी जिससे जायसी 'मनुष्य' की कविता करने में सफल हो सके। साही ने 'जायसी' को केन्द्र में रखकर जहाँ एक तरफ 'भक्तिकाल' की कविता की धर्म सम्बन्धित अनुभूति का जायज़ा लिया है, वहीं इसी के माध्यम से हिन्दू मुस्लिम धर्म में समन्वय की चेष्टा का भी प्रयास किया है।

साही धर्म निरपेक्षता को दो भागों में बाँटकर देखते हैं। एक–समान दूरी वाली धर्म निरपेक्षता, दूसरी–धर्मनिरपेक्ष धर्म निरपेक्षता। एक समान वाली धर्म निरपेक्षता को कबीर के सन्दर्भ से व्याख्यायित करते हुए साही कहते हैं कि कबीर में यह तत्व सबसे अधिक है। कबीर के सन्दर्भ को रेखांकित करते हुए साही 'आधुनिकता' के पहलू से भी 'धर्म पर विचार करते हैं। "कबीर दास को हम क्या कहें? धर्मान्ध या धर्मनिरपेक्ष? इस तरह पूछने पर फौरन लगता है कि सिर्फ दो चौखट्टे काफी नहीं है। और भी होने चाहिए। इसी से साबित होता है कि धर्म निरपेक्षता का सवाल उतना इकहरा नहीं है जितना सिर्फ यूरोप के अनुभव को देखकर मान लिया जाता है। हिन्दू और मुसलमान दोनों से समान दूरी पर अपने को जगाने की कबीर की कोशिश को सब जानते हैं। इस मंशा से वह धर्म को बल्कि दोनों धर्मों को निचोड़ते हैं। धर्म का एक काम यह भी होता है कि वह कुछ दुनियावी चीजों को 'पावनता' से मंडित करता है और बाकी को 'अपावन' बनाता है। धर्मान्धता में यह पावन–अपावन टक्कर बडी उग्र हो जाती है और बहुतों को लपेटती है। कबीरदास की निचोड धर्म के पावन तत्व को मुनष्य की सहज आतरिकता में सीमित कर देती है। दुनिया खाली हो जाती है बाहरी बातें 'पावनता' के घेरे के बाहर हो जाती हैं, गौण या निरर्थक हो जाती है। दूसरे शब्दों में यह ललकार चालू पावनता को धर्मनिरपेक्षता में बदलने का ढंग है। इन सब धर्मों से समान दूरी का प्रयास, धर्मनिरपेक्षता उपजाता है।"[4]

कबीर का जो समन्वय का प्रयास था वह एक 'नई दुनिया' की स्थापना में था। लेकिन समाज को जोड़ने का प्रयास उसके भीतर से ही होना चाहिए, किसी भी तरह से अलग होकर नहीं। इस दृष्टि से 'जायसी' अधिक महत्वपूर्ण है जिन्होंने धर्म के अन्दर रहकर भी 'धर्मनिरपेक्षता की खोज की है। साही लिखते हैं "जायसी कबीर से भिन्न है। वह अपने इस्लाम में दृढ़ हैं। लेकिन अभिव्यक्ति के लिए लोक भाषा को चुनते हैं। यानी फारसी से इस्लाम का अनावश्यक रिश्ता तोड़ते हैं। पद्मावत में वह मानवीय प्रेम के उस रसायन का आविष्कार करते हैं जो मनुष्य को मुट्ठीभर धूल से उठा कर 'बैकुंठी' बनाता है।"[5]

जायसी 'मानुष–प्रेम' को बैंकुठी बनाने में दो तरफा चुनौती का समाना करते हैं। प्रेम को बैंकुंठी बनाने का काम ईरान में भी सूफियों ने किया है। लेकिन जायसी इससे एक कदम आगे बढते हैं "जायसी अपने परिवेश और काव्य–माध्यम के चुनाव के कारण ईरानी सूफियों से कुछ आगे बढ़ने को विवश है। ईरान के सूफियों के सामने सिर्फ एक धर्म था – इस्लाम, उसी को उन्होंने प्रेम रसायन डालकर निचोड़ा, लेकिन जायसी के सामने दुहरी चुनौती थी। अगर यह रसायन मनुष्य मात्र के ह्दय में है तो सबको निचोडेगा। इस तरह एक धर्म का सारतत्व सब धर्मों का सारतत्व बनता है। जायसी का तसव्वुफ आगे बढकर बिना अपने इस्लाम को छोड़े, हिंदू धर्म के मर्म को स्पर्श करता है। कविता में एक तत्काल नतीजा यह निकलता है कि धारणाओं, प्रत्ययों, प्रतीकों, पुराकथाओं, मिथको, शब्दों की एक उभयधर्मी या बहुधर्मी दुनिया खड़ी हो जाती है, जो किसी एक धर्म के पाश से मुक्त हो जाती है। दीवारे टूटनें लगती हैं। 'कविलास' और 'जन्नत' का फर्क मिट जाता है।............ संक्षेप में जकड़बन्द धार्मिक प्रतीक प्रत्यय या मानवीय प्रतीकों में बदलकर धर्मनिरपेक्ष होने लगते हैं।"[6]

जायसी का महत्व इस दृष्टि से भी है कि उन्होंने इतिहास की यथार्थता को उसके उसी रूप में प्रस्तुत किया है जैसा वह मूलरूप में था। इस दृष्टि से जायसी ने एक जोखम उठाने का काम किया। एक तरफ वे अलाउद्दीन की विजय को स्वीकार करते हैं दूसरी तरफ जौहर होती हुई स्त्रियाँ का वर्णन भी करते हैं। जायसी शुद्धरूप से 'हिन्दू–मुस्लिम' टक्कर को बिना किसी लाग–लपेट के व्याख्यायित करते हैं। "लगता है कि वह जानबूझकर उस अलौकिक प्रेम–रसायन को दुखती रगो के संग्राम में डालकर परखना चाहते है कि इसमें कुछ दम भी है या सिर्फ लफ्फाजी है।"[7]

साही का मानना है कि जायसी के बाद के भक्ति कवि सूरदास, तुलसीदास ऐसा नहीं कर पाते। आखिर क्यों? क्योंकि "सूरदास की धार्मिक अनुभूति परमदर्शन को इतना घनत्व दे देती है कि वह उनके भीतर ही समूचा समा जाता है। बाहर कोई वृन्दावन नहीं बचता या अगर बचता भी है तो असली वृन्दावन के निमित्त छूछे संकेत की ही तरह। जबकि तुलसीदास थोड़े भिन्न है। यह सही है कि उनकी

धार्मिक अनुभूति भी मुख्यतः उनके मर्म में ही लहराती है, लेकिन कुछ बाहर भी झलकती है। हमारी रोजमर्रा की दुनिया में भी पावन–अपावन का भेद पैदा करती दिखती है।"[8]

वस्तुतः साही जिस समन्वय की बात कर रहे थे उससे उनका मंतव्य था कि समाज को उसके सभी सन्दर्भों से जोडकर परख कर देखना ही महत्वपूर्ण होता है। किसी भी मर्ज को जड से उखाड फेकना जरूरी है न कि उस पर कोई लीपा पोती करना या उससे पलायन करना। साथ ही यह स्वीकार भी है कि आधुनिक भारत का सांस्कृतिक समाज सिर्फ 'हिन्दू धर्म' से परिचालित नहीं हो सकता उसमें उतना ही महत्व अन्य धर्मों खासकर 'मुस्लिम धर्म' का भी है। क्योंकि "जब दो या अधिक धर्मो में टकराव होता है तो आदमी तर्कशः तीन धारणाएँ बना सकता है। पहली धर्म में सार है, बाकी निस्सार है। दूसरी सभी धर्मों में सार है। तीसरी सभी धर्म निस्सार है। पहली धारणा अगर धर्मान्ध है तो अंतिम दोनों धर्मनिरपेक्ष होगी।"[9] और यही दूसरी धारणा– एक समान दूरी वाली धर्म निरपेक्षता है तो तीसरी निरर्थकता वाली धर्म निरपेक्षता है।

साही अपने विचार क्रम में मध्यकाल में ही नहीं प्रविष्ट होते बल्कि मध्यकाल की इस्लामी मनोवृत्ति की पहचान करने में खैबर दर्रे के उस पार तक जाते हैं। साही की एक ख़ास विशेषता रही है कि वे अपनी बात को इधर–उधर से खोद–खोदकर देखते हैं। हिन्दुस्तान के मुस्लिम राज्य और ईरान के मुस्लिम राज्य को एक साथ देखने का क्या औचित्य? औचित्य है; क्योंकि भारत में स्थापित मुस्लिम राज्य सिर्फ 'इस्लाम' का प्रतिबिम्ब नहीं है बल्कि एक भारतीय जनमानस का वह प्रतिबिम्ब जिसमें कितना हिन्दू है कितना मुसलमान, कितना अलाउद्दीन है कितना पद्मावती का भी प्रतिबिम्ब है। ईरान में राष्ट्रीयता की एक लहर महमूद गजनवी से थोडा पहले उठी उमर खलिफा के सहयोगी साथियों ने पूरे ईरान के साहित्य को जलाकर नष्ट कर दिया। लेकिन सारा प्रयास निरर्थक साबित हो गया जब ईरान के साहित्यकारों ने उसके समूचे इतिहास को फिर से जिन्दा कर दिया। साही 'फिरदौसी' के 'शाहनामा' को एक क्रान्तिकारी पुस्तक के रूप में स्वीकार करते हुए कहते हैं कि "महमूद गजनवी के दमन के बावजूद शाहनामा अमर हुआ। इतना

ही नही, फिरदौसी की दृष्टि इस मामले में बिलकुल साफ है कि अरब विजेताओं के विरूद्ध लडाई, ईरान की राष्ट्रीय अतः धर्म निरपेक्ष लड़ाई है जिसमें ईरान की समूची परम्परा को जीवित रखने की जरूरत है।"[10] लेकिन भारत में ऐसा नहीं हुआ, कोई फिरदौसी जन्म नहीं लेता? लोक गाथायें जिसमें हीर–राँझा, सोहनी–महीवाल, सस्सी–पुनो, पद्मावत आदि शामिल है, में वे उड़ान के तत्व नहीं मिलते जो फिरदौसी में थे। साही का मानना है कि "फिरदौसी और उसके शाहनामा के प्रवाह का मतलब सिर्फ दूर से झलकने वाली निर्मल, मोहिनी चंचल लोकगाथा नहीं है। वह कुछ और है वह एक ऐसा प्रामाणिक रचना विधान है जो एक ही बहाव में लोक संस्कृति और उच्च संस्कृति दोनों को इस तरह जोड़ देता है कि अंतर मिट जाता है।''[11] फिरदौसी का महत्व इस दृष्टि से भी है कि उसके सामने महमूद गजनवी जैसा कट्टर बादशाह भी छोटा पड़ जाता है। फिरदौसी को साही मध्यकालीन भारत में एक सम्भावना की तरह स्वीकार करते हैं। भक्तिकालीन कविता में दो संस्कृतियों को लेकर समन्वय की दृष्टि साही को कालिदास की तरफ भी उन्मुख करती है। जिस राष्ट्रीय सन्दर्भ से फिरदौसी का साहित्य धर्मनिरपेक्ष है, उसी दृष्टिकोण से संस्कृत साहित्य भी धर्म निरपेक्ष है। साही कहते हैं कि ''कमनीयता कीर्ति, प्रेम और मधुर मादकता से बनी हुई कालिदास की दुनिया मूलतः धर्म निरपेक्ष दुनिया है। पराक्रमी पुरखों से लेकर आखिरी क्षय तक कालिदास जिस तटस्थ भाव से समूचे रघुवंश की तस्वीर हमारे सामने रखते हैं वह न केवल धर्मनिरपेक्ष है, बल्कि कुछ हद तक नीति–निरपेक्ष भी लगती है।''[12] साही इसे भक्ति काल का दूसरा क्षितिज मानते हैं और कालिदास और फिरदौसी दोनों को मध्यकालीन क्षितिज में सम्भावना की तरह झलकता पाते हैं "और बीच के मैदान में हिन्दी भाषा उत्तर भारत का काव्य जन्म लेता है।''[13] वस्तुतः साही धर्मनिरपेक्षता की संस्कृति' को समाजशास्त्रीय दृष्टि से परिभाषित करते हैं। 'धर्मनिरपेक्षता' सिर्फ धर्मों से निरपेक्ष सम्बन्ध पर ही नहीं आधारित होती, बल्कि वह अपने काल समय़ में राजनीति से भी निरपेक्ष होती है।

अठारहवीं शताब्दी के भारत में 'हिन्दू मुस्लिम' से परे एक दूसरी धार्मिक विचारधारा का आगमन होता हैं 'क्रिश्चियन धर्म' का। 'इंग्लिस्तान' की 'विचार भूमि'

के कारण भारत का जो नया समाज जन्म ले रहा था, उसकी दिशा–दशा बदल गयी। जायसी, फिरदौसी, कालिदास की तरह एक नये व्यक्तित्व की तलाश शुरू होती है और वह खोज गांधी जी में जाकर पूरी होती है। गांधी जी ने अपने अथक प्रयास से भारत को स्वतन्त्रता दिलाई। यद्यपि यह श्रेय अकेले गांधी जी को ही नहीं जाता, लेकिन अगुआई गांधी जी ने की है। साही का मानना है कि स्वाधीनता संग्राम के दौरान भारत के गौरवमय इतिहास और महान परम्परा का हवाला बार–बार दिया गया। जिसके पीछे विदेशियों के विरोध के प्रति आत्मविश्वास और महत्वाकांक्षा जगाने की भावना थी। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा की कसौटी अन्वेषण की नहीं सृजनात्मकता की हो जाती है। साही का मानना है कि "आज की स्थिति को आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इन चार स्तरों पर देख सकते हैं।"[14] 'इसी दृष्टि से साही 'इतिहास' को वर्तमान के सापेक्ष देखते हैं। रामचन्द्र शुक्ल से साही की दृष्टि का अन्तर यही है कि रामचन्द्र शुक्ल वर्तमान में भूत को समाहित कर देते हैं जबकि साही वर्तमान का फैलाव भूत में भी करते हैं और भविष्य में। साही का मानना है कि "इतिहास सिर्फ वही नहीं है जो दो हजार बरस पहले घटित हुआ था, बल्कि वह भी है जो पिछले सौ वर्षों में गुजरा है और वह भी जो कल घटित होने की सम्भावना की तरह आज हमारे मानस को व्याकुल कर रहा है।"[15]

परम्पराओं से समाज का गठन भी जुड़ा रहता है और जब परम्परायें टूटती हैं तो समाज के टूटने का भी खतरा बना रहता है लेकिन साही का तर्क है कि यह सच नहीं है क्योंकि अठारहवीं सदी से कहीं भारत आज ज्यादा मजबूत है, तो इसका तात्पर्य है कि "परम्पराओं के अलावा और चीजें भी हैं जो सामाजिक इकाई को बांधता है।"[16] 'धर्म और संस्कृति' ये दो तत्व हैं जिनसे समाज को एकजुट रहता है। साही का मानना है कि मध्ययुग में परम्पराओं का पुंज ही धर्म था और भारत में आधुनिकता का पहला कदम धार्मिक सुधार ही है, लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण बात है 'संस्कृति'। 'संस्कृति' धर्म के मुकाबले बड़ी चीज है इसमें धर्म, कला, साहित्य, रीति–रिवाज, संस्थाएं राजनीति, समाज नीति और इतिहास का बड़ा हिस्सा समाहित होता है। कुल मिलाकर 'संस्कृति' परम्पराओं का प्रभा मण्डल है।

इस दृष्टि से साही 1947 के विभाजन को सिर्फ राजनैतिक असफलता नहीं स्वीकारते उसे सांस्कृतिक विफलता भी स्वीकारते हैं। साही का कहना है कि "धर्म की संस्कृति से उलझने की कोशिश मूलतः परमतत्व से निकलकर इतिहास में आने की कोशिश है। इस क्षेत्र में आने पर नयी समस्याएँ खडी हो गयीं। एक तरफ तो आर्य संस्कृति और द्रविड संस्कृति की बहस चल पडी, दूसरी तरफ हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति की। मुख्य बौद्धिक चुनौती यह थी क्या संस्कृति की कोई ऐसी सन्तोषजनक परिभाषा हो सकती है, जो इस समूची सामाजिक इकाई को कई केन्द्रों की जगह एक केन्द्र प्रदान कर सके? सत्याग्रह युग (बीसवीं सदी के तीसरे और चौथे दशक) में इसका सबसे चलता हुआ जबाब 'समन्वित संस्कृति' की धारणा में दिया। लेकिन 'समन्वित संस्कृति' एक केन्द्र की स्थापना नहीं कर सकी, वह कई केन्द्रों के सहअस्तित्व तक ही सीमित रही।

धार्मिक दीन इलाही पन की तरह समन्वित संस्कृति ने भी एक नये शास्त्रार्थ को जन्म दियाः 'असली संस्कृति' बनाम 'संकुचित संस्कृति'। यह बहस भी सुनाई पड़ती है। इसके पहले की धर्म की तरह संस्कृति को भी हम किसी और बड़ी संवेदनशीलता में पचा लेते, बँटवारा हो गया। भारत–पाकिस्तान विभाजन धार्मिक विफलता नहीं है, गहरे स्तर पर सांस्कृतिक विफलता है। जिन्ना से लेकर अयूब खां तक का नेतृत्व इस्लाम धर्म के बूते पर नहीं है (क्योंकि वे धार्मिक नेता नहीं हैं), बल्कि मुस्लिम संस्कृति के नाम पर हैं।"[17]

सन् 1947 की आजादी को साही ने पूर्वग्रहहीन क्रान्ति माना है। 'पूर्वग्रहीन' इस अर्थ में कि "हर क्रान्ति के साथ भावनाओं के एक वृहत् कोष का विस्फोट होता है जो पिछले सम्बन्धों के टूटने के बाद नये सम्बन्धों के लिए घृणा द्वेष, प्रेम, भय, आक्रोश, धैर्य, निष्ठा आदि को नई दिशाएं झटके के साथ नया आवेग देता है। 1947 की आजादी ने यह नहीं किया। संसार की यह सबसे अधिक पूर्वग्रहीन क्रान्ति थी।"[18] आजादी की लड़ाई में एक तरफ भारत बनाम पश्चिम का द्वन्द्व था तो दूसरी तरफ हिन्दू बनाम मुस्लिम का और इस पहलू का तीसरा कोण सवर्ण बनाम अवर्ण का भी था। भीमराव अम्बेडकर ने हरिजनों के लिए अलग स्वायत्तता की मांग की जिसे अंग्रेजों ने हवा दी। गांधी जी ने इसका विरोध किया, आमरण अनशन कर

भीमराव को 'पूना पैक्ट' लिए बाध्य किया। एक तरह से गांधी के विचारों में परिवर्तन की यह आधार भूमि है। क्रान्ति का एक तरीका गांधी का आमरण अनशन भी है इससे साही बहुत गहरे प्रभावित होते हैं। जब समाज के अन्दर से गांठ बनने लगती है तो सामाजिक प्रक्रिया पतनशील हो जाती है। गांधी ने अपने कर्म से इस गांठ को तोडने का प्रयास किया और "समाज में फॉक बनाने वाले तत्व के पहले उसका विरोध करने के साथ–साथ विषमता से वह फॉक वहां उत्पन्न हुई उस विषमता को भी उन्होंने अपने जिम्मे लेने का हठ लिया।"[19]

स्वतन्त्रता के बाद भारत में 'जाति–प्रथा' की समस्या और गंभीर रूप धारण कर लेती है। जो संघर्ष हरिजन बनाम सवर्ण का था उसमें एक तीसरा वर्ग जिसे पिछडा वर्ग कहा जाता है का उद्भव होने लगता है। इस वर्ग को तो कोई भीमराव अम्बेडकर नहीं मिले लेकिन चरण सिंह जैसा किसान नेता मिला। पिछड़े वर्ग की सामाजिक स्थिति हरिजन वर्ग से भिन्न थी इसलिए पिछड़ा वर्ग किसी इन्कलाब की बात नहीं करता उसे सिर्फ ऊँची जातियों के समान समाज में स्थान चाहिए। साही के अनुसार "उसकी अपनी जो जातिगत सामाजिक महत्वाकांक्षाएं हैं, उन सामाजिक महत्वाकांक्षाओं के भीतर ही वह अपनी राजनीति की तस्वीर बनाता है उस तस्वीर में इन्कलाब नहीं शामिल है, जाति तोड़ना नहीं शामिल है, केवल ऊँची जातियों के आसन पर एक पीढ़ा हमारा भी लग जाय यही मांग है।"[20]

जातिवाद की यह समस्या 'भक्तिकाल' में भी थी। भक्तिकाल के कवियों ने इसका हल अपने तई निकाला, लेकिन कुछ ही समय बाद यह व्यवस्था और भयानक रूप से भारत में स्थिर हो गयी। शायद इसके मूल में हिन्दू धर्म की वह पाचन शक्ति है जिसमें आकर सबका कोई न कोई समाधान निकल ही जाता है और कुछ नहीं तो एक नया संगठन बन जाता है, क्योंकि "हिन्दी समाज ऐसा है कि आप रजनीश हो सकते हैं, बहुत ही क्रान्तिकारी बात कह सकते हैं और एक बिलकुल क्रान्तिकारी सम्प्रदाय की स्थापना कर सकते हैं और बहुत चौकानें वाली प्रथाओं का प्रवर्तन कर सकते हैं। बशर्ते आप अपने सम्प्रदाय के अन्दर करें? वैसा करने का अधिकार हिन्दू धर्म आपको दे सकता, क्योंकि सम्प्रदाय समझौते की एक विशेष अवस्था में क्रियाशील होता है, वह तनाव की अवस्था में क्रियाशील नहीं हो

पाता वह क्रान्ति नहीं होता, वह सिर्फ अलगाव होता है।"[21] साही ने बार–बार इस तथ्य को रेखांकित करने का प्रयास किया है कि कैसे भारत में जाति–प्रथा को तोडा जाय, कैसे 'हिन्दू मुस्लिम' एकीकरण को मजबूत किया जाय। 'हिन्दू–मुस्लिम' एकता के लिए साही कहते है कि मुसलमानों की जब सत्ता भारत को अपना देश मानने लगी, उसी समय एक दूसरे आक्रमणकारियों की लहर आयी उसने भी जब भारत को अपना देश माना तो तीसरा दल आया। इस तरह से बार–बार आक्रमण मुस्लिम शासक झेलते रहे। वस्तुतः ये विचार राम मनोहर लोहिया के हैं, साही इसे विस्तार देते हुए हिन्दू मुस्लिम समन्वय की बात करते हैं" अपने को उस समय के विजेता समझते हैं वह स्वयं सोचे और जरूरत पड़ने पर अगर हिन्दू हैं तो मुसलमानों और अगर मुसलमान हैं तो हिन्दुओं से विचार–विमर्श करें। डरे नहीं कि खुली बात कहने में गड़बड़ है।"[22] साही अपनी बात बड़े ही बेलाग तरीके से रखते हैं। बगैर इस चिन्ता के कि उनकी बात का इस्तेमाल कौन अपने पक्ष में करेगा। साखी कविता संग्रह में 'साही' अपने 'परम गुरू' से प्रार्थना करते हैं कि"[23]

परम गुरू
दो तो ऐसी विनम्रता दो
कि अन्तहीन सहानुभूति की वाणी बोल सकूँ।
और यह अन्तहीन सहानुभूति
पाखण्ड न लगे।

– – – – – – – – –
– – – – – – – – –

दो तो ऐसी निरीहता दो
कि इस दहाड़ते आतंक के बीच
फटकार कर सच बोल सकूँ।
और इसकी चिन्ता न हो
कि इस बहुमुखी युद्ध में
मेरे सच का इस्तेमाल कौन अपने पक्ष में करेगा।

बगैर चिन्ता किये साही एक तरफ हिन्दू धर्म के कमजोर पक्षों पर चोट करते है तो दूसरी तरफ वह मुसलमानों को भी नहीं बक्सते। साही का मानना है कि लोहिया ने सारे भारत में एक से संविधान की वकालत की है उसके पीछे उनकी सामाजिक क्रान्ति का सिद्धान्त है। साही मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति का विरोध करते हुए लिखते हैं कि "हम आप इन्कलाब करते हैं चाहे इस्लाम को मानते हैं। इसके तो सारे उसूल हमारी कुरान में मिल जाते हैं फिर मुसलमान जब बहुमत में है तो क्या करें। जब सत्ता तक होगा तब पता चलता है। तब सैयद के भी अपने सलाओं चेला जैसे खुमैनी साहेब बहुत लोग जैसे कर रहे हैं। जिया–उल–हक साहेब कर रहे हैं। इसका न हदीस में और न ही कुरान में कोई जिक्र है कि तुम जब अल्पत में रहो तो क्या करो। इसलिए मुसलमान जब अल्पमत में है तो उसे धर्मनिरपेक्षता चाहिए, सत्ता में है तो कहता है कि सिवाय इस्लाम के और कोई धर्म नहीं चलेगा। एक जबान दो फांक।"[24]

वस्तुतः साही तटस्थ भाव से हिन्दू–मुस्लिम' संस्कृति को परखने के हिमायती रहे है। तुष्टिकरण की नीति–चाहे वह हिन्दू के पक्ष में हो या चाहे मुसलमान के पक्ष में का साही बार–बार विरोध करते हैं।

डा0 राम मनोहर लोहिया के 'सात क्रान्तियों' के सिद्धान्त में एक सिद्धान्त है 'नर–नारी समानता' का। लोहिया ने सीता सावित्री को आदर्श रखने के बजाय 'द्रौपदी' को आदर्श माना। इस अर्थ में नहीं कि वह पांच पतियों वाली स्त्री है, बल्कि इस अर्थ में कि वह अपने अधिकारों के प्रति सतत जागरूक है। वह अपने प्रति होने वाले अन्याय से लडना जानती है। आज की नारी को भी ऐसा ही होना चाहिए। इसी बात को आगे बढ़ाते हुए साही कहते हैं कि "आज अगर मैं तुलसी दास की जगह राम की कथा लिखने बैठूं तो निश्चय ही मैं सवाल पूछूंगा कि अहिल्या का कौन सा दोष था? उसका तो एक तरह से बलात्कार ही हुआ था, बल्कि उससे भी ज्यादा खराब धोखा दिया था।"[25] दरअसल समस्या नारी–पुरुष की न होकर समाज की पुरूष मानसिकता की है। 'योनिशुचिता' के सिद्धान्त से स्त्री के लिए एक कसौटी और पुरुष के लिए दूसरी कसौटी निर्धारित करना न सिर्फ सामाजिक स्तर पर अन्याय है, बल्कि मनुष्य होने की संभावना को भी समाप्त करना

है। नारी की यह स्थिति सिर्फ हिन्दू धर्म मे ही हो ऐसा नहीं है, मुसलमानी संस्कृति में यह तो और भयानक रूप में विद्यमान है।

आधुनिक काल में फ्रांस की एक अस्तित्ववादी विचारक सिमान दी बोबा ने स्त्रियों के शोषण सम्बन्धी कारणों में 'विवाह' को भी एक कारण माना है। समाजवादी विचारक साही इस बात का विरोध करते हैं। "स्त्री–पुरुष विवाह होता है, वहीं स्त्री का शोषण शुरू हो जाता है। कहने को ये बातें अच्छी लगती हैं कि परिवार ही शोषण का आधार है। यह नहीं कि आज का परिवार शोषण को बढावा देता है, बल्कि परिवार मात्र चाहे जिस समाज में होगा, यदि पारिवारिकता होगी, स्त्री–पुरुष में विवाह सम्बन्ध होगा तो सिवाय शोषक–शोषित के कोई दूसरा सम्बन्ध नहीं बनेगा। कोई भी समाजवादी और समाजशास्त्री इतना तो मान लेगा कि आज के समाज, आज के परिवार, स्त्री–पुरूष के बीच में बडी असमानताएं हैं और शोषण के बहुत से आधार है। उन आधारों को दूर करना एक बात है, लेकिन यह कहना कि परिवार मात्र ही, विवाह पद्धति मात्र ही इस संकट को खड़ा कर देती है, ऐसा कोई समाजवादी स्वीकार नहीं करेगा।"[26]

"भाषा' पर साही ने अपने विचार–क्रम में बहुत कुछ ऐसे विचार प्रस्तुत किये हैं जिससे हिन्दी आलोचना अछूती रही है। 'भाषा' की समस्या 'भारत' के लिए सांस्कृतिक समस्या रही है। खासकर स्वतन्त्र भारत में। अंग्रेजी बनाम हिन्दी' 'हिन्दी बनाम अन्य प्रान्तीय भाषा' का द्वन्द्व भारत को दो ध्रुवों उत्तर, दक्षिण में बांट देने की स्थिति में पहुंच गया है। सारी कवायद के बाद भी आज 'हिन्दी' की अपेक्षा 'अंग्रेजी' मजबूत स्थिति में भारत में पैर जमा चुकी है। जो कि ठीक नहीं है, क्योंकि "किसी भी दूसरे देश की भाषा ज्ञान का साधन बन सकती है। यह अलग मत है, लेकिन देश की एकता का साधन बन सकती है, कभी नहीं। वह हमेशा विदेशी है।"[27]

भाषा की समस्या सिर्फ 'आधुनिक भारत' की ही समस्या नहीं रही है। मध्यकाल में भी ऐसी स्थिति थी। राजभाषा दूसरी लोक भाषा दूसरी। भक्तिकाल, रीतिकाल की भाषा कविता में लोकभाषा अवधी, ब्रज की रही है और राजनीति में फारसी। ब्रज, अवधी को स्थापित करने में युगीन कवियों को काफी संघर्ष करना

पडा। मामला धर्म का भी था– इसकी अभिव्यक्ति 'भाषा' के लिए चुनौती थी। 'भक्ति–काल' की भाषिक स्थिति की विवेचना करते हुए साही कहते हैं कि "धर्मान्धता और धर्मनिरपेक्षता की सीधी बहस में विषयवस्तु की ओर ध्यान बरबस चला जाता है। लेकिन काव्य सत्य में निहित समूची सम्भावना को देखने के लिए विषय वस्तु और रूप विधान को अलग न करना उचित है और यही लोक प्रचलित धर्म–निरपेक्षता तत्व–यानी बोल चाल की भाषा बड़े पैमाने पर काम करती दिखती है। बोलचाल की भाषा धर्म निरपेक्ष इसी अर्थ में होती है कि धर्मों के अन्तर के बावजूद सभी लोग उसे बोलें। भाषा सबकी होकर 'धर्म निरपेक्ष' हो जाती है।"[28] साही का मानना है कि धर्म के तत्ववाद को पकड़ने के बावजूद भक्तिकाल के कवियों ने भाषा की एकतानता को स्वीकार कर 'सर्वसम्प्रदाय' की स्थापना की। "एक ही अवधी से जायसी और तुलसीदास दोनों का काम चलता है। कविरूप में दोनों एक ही मनोभूमि के अंग है। अगर जायसी अपनी बात फारसी में कहते और तुलसीदास संस्कृत में तो प्रेम–रसायन या भक्ति–रसायन में समानता के बावजूद दोनों के दायरे अलग रहते। जैसे शेख सादी और जायसी की दुनियाएं अलग हैं। दरवेश दोनों है। यहां संस्कृत और फारसी हिन्दू और मुसलमान के साथ नत्थी हो गयी थीं। लोकभाषा हिन्दी दीवारें तोड़ती है और समन्वय का आह्वान करती है।"[29] साही को जायसी अपने 'मानुष प्रेम' के साथ–साथ इसलिए भी महत्वपूर्ण लगते हैं कि मुसलमान होने के बावजूद, इस्लाम में दृढ़ आस्था रखने के बावजूद, अपनी अभिव्यक्ति के लिए लोकभाषा अवधी का चुनाव करते है। "यानी फारसी से इस्लाम का अनावश्यक रिश्ता"[30] तोड़ते हैं।

'रीतिकाल' को हिन्दी आलोचना में 'छय युग' के नाम से जाना जाता है। लेकिन साही इस काल को भाषायी दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण मानते हैं। साही का मानना है कि जब मुस्लिम सत्ता भारत में पैर जमा चुकी थी तात्पर्य यह कि वह भारत को अपना मुल्क मान चुकी थी तो राजभाषा को लेकर एक सवाल उस दौर में भी उठा। ठीक उसी प्रकार जिस तरह से आधुनिक काल में, स्वतन्त्र भारत में 'हिन्दी या अंग्रेजी' का उठा है। साही किसी भी युग को उसके राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक दृष्टि से विचार करने के पक्षपाती रहे हैं। वस्तुतः उनकी

कोशिश युग की मनोभूमियों' को उसके 'तलस्पर्शी' तत्वों से खोजने की रही है। 'ब्रजभाषा' के काव्य भाषा बनने के कारण को साही तत्कालीन राजनीतिक स्थिति से जोडकर देखते हैं। साही कहते हैं "1661 में एक बेमतलब पानीपत की तीसरी लडाई हुई जिसमें किसी चीज का निबटारा नहीं हुआ और 1757 में बहुत मतलबों से भरी हुई प्लासी की लडाई हुई जिसने भविष्य के लिए सब कुछ का निपटारा कर दिया।"[31]

सामाजिक स्थिति राजनीतिक स्थिति से भिन्न नहीं हो सकती। कविता समाज को गतिमान बनाने का एक तत्व है। सत्रहवीं–अठारहवीं शताब्दी में 'ब्रजभाषा' ने यही काम किया है। "ब्रजभाषा कवियों ने सबसे बड़ा कमाल यह किया कि जब एक ओर राजनीतिक एकता टुकड़े–टुकडे हो रही थी उन्होंने आज जो हिन्दी–भाषी क्षेत्र कहलाता है, इस पूरे खित्ते के लिए बड़े मनोयोग से एक सर्वमान्य भाषायी माध्यम निर्मित कर डाला। इतना ही नहीं उसे परवान भी चढ़ाया। पूरे क्षेत्र को समान रूचि और काव्य भंगिमा दी और लोकभाषा में तराश और प्रगल्भता की यह खोज निकाली जो न सिर्फ सात समुन्दर पार उसी समय के अंग्रेजी 'मेटाफिजिकल' कवियों की बौद्धिकता की जैसी लगती है, बल्कि बात पैदा करने में उनसे आगे भी निकल जाती है। पंजाब से लेकर मिथिला तक और काश्मीर से लेकर सतारा तक हृदय एक तरह धड़काना सिर्फ दरबारी विलासिता या विमूढ़ रूढ़िवादिता के बूते का काम नहीं है। कुछ और है जो बिहारी के दोहों को बॉकी मुस्तैदी और घनानन्द के स्वर को कसकता हुआ पकापन देता है।"[32] इसीलिए साही रीतिकालीन कविता को सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हैं। साही का यहां तक मानना है कि ये कवि न होते तो हिन्दी भाषी क्षेत्र बोलियों में टूट जाता। इन्होंने अपनी आन्तरिक स्फूर्ति से ब्रजभाषा में कविता लिखने का फैसला लिया तथा दूर–दूर तक के भिन्न क्षेत्रीय– 'ऐते–ऐते कविन की वानी हू सो जानिये'–कवियों ने भाषा का निर्माण किया जैसे खड़ी बोली को भारतेन्दु से लेकर निराला, प्रेमचन्द्र आदि ने मानक रूप प्रदान किया। साहीपूर्व हिन्दी आलोचना में रीतिकालीन कविता को 'परस्त्रीगमन' का चित्र मानकर उसे कठघरे में खड़ा किया जाता रहा पर, साही ने अपने चिंतन से इस परम्परा को तोड़ने का प्रयास किया है। ब्रजभाषा और

फारसी के द्वन्द्व के साथ–साथ साही हिन्दी और उर्दू के द्वन्द्व को भी सामने रखते हैं। भारत में एक आम प्रचलित धारणा रही है कि हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानो की भाषा है। बीसवीं शताब्दी में बार–बार इसी प्रश्न को लेकर विवाद उठता रहा है। साही इसे सांस्कृतिक खतरा मानते हैं। क्योंकि 'उर्दू' को फिर से जिन्दा करने की कवायद करना एक तरह से भारत की एकता अखण्डता को नष्ट करना होगा। क्योंकि उर्दू भाषा बहुमुखी प्रतिभा की भाषा नहीं है। "अगर वह पर्याप्त रूप से बहुमुखी भाषा, प्रतिभा वाली भाषा होती जो पूरे पतन काल को आच्छादित कर लेती तो भी वह ब्रजभाषा को अप्रासंगिक बना देती। लेकिन सब होने पर भी पतनकाल का एक हिस्सा उर्दू की पकड़ के बाहर रह गया और वह कार्य ब्रजभाषा के रीतिकालीन कवि करते रहे। एक घातक भूल जो उर्दू के लेखकों ने की वह यह थी कि उन्होंने ब्रजभाषा या ब्रजभाषा के पहले के कवियों की सजीव और उद्दीप्त परम्पराओं से सम्बन्ध–विच्छेद कर लिया।"[33] इसलिए आज के सन्दर्भ में उर्दू हमारे महत्व की भाषा नहीं रही क्योंकि "जो विरासत हमारे लिए छोड़ी है वह बहुत अधिक रीतिबद्ध, बहुत नफीस और तराशी हुई है। अतः हमारी जरूरतों के लिए अनुपयुक्त है। ब्रजभाषा के क्षीण पडकर लोप हो जाने की प्रक्रिया उन्हीं कारणों से हुई। एक लगभग पीठिका की आवश्यकता है। जैसा कि स्पष्ट है हिन्दी ने इस दिशा में गतिशीलता का सामर्थ्य अधिक दिखाया, क्योंकि वह भविष्योमुखी है। अतः आधुनिक हिन्दी ही चयनीय सिद्ध होगी,जिसका विकास आधुनिक युग के साथ संक्रमण करता है।"[34] इसलिए "उर्दू को वैसे ही सूख जाने देना चाहिए जैसे ब्रजभाषा।"[35] ऐसा नहीं है की साही सिर्फ उर्दू या ब्रजभाषा के लिए 'रीतिबद्ध, नफीस, तराशी हुई भाषा का मानदण्ड स्वीकार कर विरोध करते हैं बल्कि हिन्दी में भी ऐसी भाषा –'छविमयता' या सिलवटों की भाषा' जिसका सन्दर्भ आंचलिकता से होता है का विरोध भी इसी दृष्टिकोण से किया है। साही एक ऐसी मानक भाषा की वकालत करते हैं जिसमें पूरा का पूरा राष्ट्र सन्दर्भित हो सके। पूरा का पूरा साहित्य अंट जाय, और यही साहित्यकार के दायित्व की कसौटी भी है। साहित्यकार के दायित्व को साही चार स्तरों की चेतना में स्वीकारते हैं। उनका मानना है कि "सामाजिक चेतना, पारिवारिक चेतना, मानवीय चेतना ब्रह्माण्डव्यापी चेतना' इन चार स्तरों पर

एक साथ लेखक का दायित्व बनता है।"[36] पीछे मैं बता चुका हूँ कि 'जायसी' की महत्ता का रेखांकन साही ने हिन्दू–मुस्लिम ऐक्य के सन्दर्भ में, उनके काव्यभाषा के सम्बन्ध में साथ ही इतिहास के यथार्थ पक्ष को ध्यान में रखकर लिखने के पक्ष में किया है और "जायसी में जितना परिवार या प्रेम का सम्बन्ध आया है, एक ही साथ ब्रह्माण्ड सामाजिक चेतना, पारिवारिक चेतना और मानवीय चेतना चारों को ध्वनित किया।"[37] इसलिए जायसी बडे कवि हैं। इसके कारण ही जायसी में 'मनुष्य मात्र की चिन्ता का तत्व प्रमुख है, क्योंकि "जायसी का प्रस्थान बिन्दु न ईश्वर है, न कोई नया अध्यात्म है। उनकी चिन्ता का मुख्य ध्येय मनुष्य है। मनुष्य जैसा कि वह सामान्य जिन्दगी में उठता–बैठता है, सीखता है, प्रेम करता है, गृहस्थी चलाता है, युद्ध मे वीरता और कायरता दिखलाता है, राज्य स्थापित करता है। बटोर करने के लिए नारे लगाता है और इस सबके बाद अपनी अपर्याप्यता की गहरी त्रासदी से ग्रस्त हो जाता है"[38] और इसके लिए "जायसी ने वह मुहावरा विकसित किया था जो एक साथ कई स्तरों पर झंकृत होता है। उनका स्वाभाविक पाठक वर्ग अलग धर्मों और संस्कृतियों के बावजूद, बिना किसी दुराव या संस्कृतिक सीमा रेखा के एक साथ उनके सृजनात्मक संसार में शामिल हो सकता है"[39] और यही मनुष्य जब इस सृजनात्मक संसार में प्रवेश करता है तो वह पाता है कि जायसी कि चिन्ता 'मनुष्य' नाभिक है और "अपने सम्पूर्ण प्रसार में यह चिन्तनशीलता पूरी कथा में एक तरल विषाद दृष्टि का सृजन करती है जिसमें मानवीय व्यापार के प्रति पीड़ा है, किन्तु अवसाद नहीं है, हल्का वैराग्य है, लेकिन गहरी संसक्ति भी है, तटस्थता है, लेकिन स्पष्ट नैतिक विवेक भी है। यही वह सुगंध है जो फूल के मरने के बाद भी नहीं मरती।"[40] 'फूल मरै पर मरै न बासू'।

जायसी का महत्व इस दृष्टि से और अधिक बढ़ जाता है कि उनके बाद के 'भक्त कवि' अपनी दुनिया को इस लोक से परे 'द्वापर–त्रेता' में केन्द्रित करते हैं। जबकि जायसी अपनी दुनिया अपने युग–भूमि में, 'अलोक–इतिहास लोक' में खोजते हैं। उस मनुष्य को खोजते रहते हैं जिससे समाज में एक सामंजस्य स्थापित हो सके। इसीलिए जायसी के पद्मावत में दो दुनियाओं की संरचना है जिसमें 'स्वप्नों आकांक्षाओं मूल्यवत्ता की एक दुनिया भीतर है। रौंदती हुई सत्ता की एक

आतककारी दुनिया बाहर है।"[41] जायसी का चिंतन तो इसी बात को लेकर था क्या इन दोनों दुनियाओं में सामंजस्य हो सकता है जब वे आपस में टकराती है तो क्या होता है? "अपनी आत्मा की पूरी शक्ति से जायसी ने इसी सवाल को **आध्यात्मिक, भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक** आयामों में पूरी पद्मावत कथा में पूछने का अभूत पूर्व प्रयास किया है। जबाब में उन्होंने देखा चिता से उड़ती हुई राख और एक वीरान सन्नाटा और जायसी उस चिता की राख को कुरेदते हैं कि इसमें एक धडकता हुआ हृदय था उसका क्या हुआ? गालिब के शब्दों में–

जला है जिस्म जहां दिल भी जल गया होगा
कुरेदते हो ये क्यो खाक जुस्तजू क्या है ?"[42]

कुल मिलाकर 'जायसी' में एक ऐसी दृष्टि मिलती है जिसमें समन्वय भी है और 'व्यक्ति–चेतना' या 'प्रेम–चेतना' का तत्व भी है। इस दृष्टि से जायसी का मानुष प्रेम 'बैकुंठी' बन जाता है। महत्वपूर्ण यह है जायसी को "बैकुंठी प्रेम की तलाश नहीं है, जो ऐसा प्रेम चाहता है जो प्रेम करने वाले मनुष्य को ही बैकुंठी बना दे।"[43] साही ने बार–बार 'हिन्दू–मुस्लिम' दोनों ही संस्कृतियों को एकाकार कर नयी भाव–प्रसार भूमि देने की वकालत की है। वे बार–बार तुष्टिकरण की नीति का विरोध करते हैं। फटकार कर सच बोलने वाले साही आधुनिकतावादियों के तुष्टिकरण की नीति का विरोध करते हुए कहते हैं कि "आधुनिकतावादी हिन्दी शास्त्रों का विरोध तो वैज्ञानिक दृष्टिकोणों के नाम पर करता है लेकिन मुस्लिम समाज के ढांचे में परिवर्तन का सवाल उठने पर मुस्लिम शास्त्रों का विरोध करने का साहस नहीं बटोर पाता, मुसलमानों के जातीय कानून में परिवर्तन करने का साहस नहीं बटोर पाता। मुसलमानों में जातीय कानून में परिवर्तन की मांग करने वाले को प्रतिगामी करार दिया जाता है। ब्राह्मणवाद तो आलोचना का विषय बन जाता है, लेकिन मुल्लावाद के खिलाफ कोई आवाज नहीं उठाता"[44]।

वस्तुतः साही अपनी सांस्कृतिक चेतना से 'हिन्दू–मुस्लिम' संघर्ष को भारत के सन्दर्भ में हानिकारक मानते हैं। वे बार–बार इस बात पर जोर देते हैं कि हिन्दू 'भारतीय मुसलमानों' को तथा मुसलमान 'हिन्दुओं' को भारत का नागरिक स्वीकार

करें। 'एकीकरण' के स्वस्थ पक्षपाती साही भारत–पाकिस्तान' के बंटवारें को नहीं पचा पाते और स्वतन्त्रता के बाद 'भारत–पाकिस्तान' के बीच जो युद्ध हुआ उसे साही एक भयानक गलती मानते हैं। 18.9.1965 को अपनी 'डायरी' में साही लिखते हैं "सब झूठ लग रहा है। 'ठीक' प्रतिक्रिया नहीं बन पा रही है चीन के लिए या पाकिस्तान के लिए दिल में तीखी नफरत महसूस करने में मैं अपने को असमर्थ पा रहा हूँ। हम सब के लिए वैसे ही तटस्थ भावना है, जैसी शास्त्री सरकार के लिए। यह राष्ट्रद्रोह हो तो हो। कोई वैकल्पिक समीकरण बनना चाहिए, जो नहीं बन पा रहा है।"[45] इससे स्पष्ट कि साही का भारत बिम्ब' किसी देशकाल की परिधि से नही घिरा है। वह 'मनुष्य' मात्र की परिधि से घिरा है।

साही के 'उधेड़ बुन' में कुछ असंगतियां भी परिलक्षित होती है जैसे समाज की एकजुटता के लिए 'धर्म' की दुहाई देना। चमार और राजा के द्वन्द्व को प्रस्तुत करते हुए साही कहते हैं "देखो तुम भी उसी शिव को मानते हैं, यह भी उसी शिव को मानता है–दोनों शिव के पुजारी हैं अगर तुमने लडाई किया तो ऐसा न हो कि शिव की जगह कोई और देवता यहां पूजा जाने लगे यह डरवाता है, लेकिन जब आग्रह अधिक बढ़ता है तो वह कहता है कि शिव तो गये भाड़ में हम तो इस राजा को हटा देंगे। इतना कह देता है कि शिव तो गये भाड में। तब खतरा लगने लगता कि अगर शिव भाड़ में चले जायेंगे तो यह समाज समाप्त हो जायेगा।"[46]

तात्पर्य यह है कि साही राजा, चमार के द्वन्द्व को प्रासंगिक मानते हुए भी परिवर्तन की चेतना को कुहासे के रूप में ही स्वीकार कर पाते हैं। क्या यह धार्मिक कठमुल्लापन नहीं है? ऐसे ही वे एक तरफ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उक्ति को संसार की सबसे खतरनाक उक्ति मानते हैं जिससे आदमी पंगु हो जाता है, कर्महीन हो जाता है तो दूसरी तरफ 'पाकिस्तान' को लेकर राष्ट्रद्रोह तक की बात करते हैं। साथ ही रीतिकालीन कविता के सांस्कृतिक महत्व को निरुपित करते हुए उसके भाषायी दृष्टिकोण की प्रशंसा करते हैं, लेकिन रीतिकालीन कविता के मूल चरित्र 'परस्त्री गमन' की बात को भूल जाते हैं। आखिर ऐसा क्यों हैं? कमला प्रसाद का मानना है कि "इतिहास संस्कृति, और सामाजिक विकास के बारे में उनकी दृष्टि अधूरी थी। वे जानकारी और सूचनाओं का आकलन पूर्वाग्रही दृष्टि से करते रहे"[47]।

कमला प्रसाद के उपर्युक्त कथन से पूरी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता कि साही का चिन्तन अधूरा है। शायद ये अन्तर्विरोध राजनीतिक दृष्टिकोण को साहित्यिक दृष्टिकोण पर वरीयता देने से ही उभर आये हैं। जो भी हो लेकिन यह भी सच है कि व्यक्ति का अन्तर्विरोध ही आने वाली पीढ़ी को नया रास्ता दिखाने का उपक्रम करता है। नयी पीढी का काम है कि व्यक्ति के अन्तर्विरोधों को स्वीकार कर उसके मूल मंतव्य को ग्रहण करें। इस दृष्टि से साही का महत्व अप्रतिम है। क्योंकि उन्होंने हमें जो विचार–पूंजी सौंपी है उसे नीर–क्षीर, विवेक से परिमार्जित करके उससे एक सही निश्चित दिशा में बढने का उपक्रम मिलता है। क्योंकि[48]–

"अजब खामोश धडकन है किसी तूफान की।
शून्य में भी जो नयी आवाज रचती ही गयी।
जिस कदर लिखता गया उठते गये अनगिनत सवाल।
लाख सुलझता गया गुत्थी उलझती ही गयी।"

तो इसी उलझन को सुझलाने की चुनौती में ही एक युग से दूसरे युग का संवाद चलता रहता है। साही की 'सांस्कृतिक दृष्टि' भी ऐसे ही संवाद की आकांक्षी रही है।

फुटनोट

1.	अभिप्राय (पत्रिका)	साही विशेषांक सं० राजेन्द्र कुमार	पृ० 03
2.	साहित्य क्यों	धर्म निरेपक्षता की खोज में हिन्दी साहित्य और उसके पड़ोस पर एक दृष्टि	पृ० 39
3	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही	पृ० 39
4.	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही धर्म निरपेक्षता की खोज में	पृ० 84—85
5	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही	पृ० 85
6.	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही	पृ० 85—86
7.	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही	पृ० 86
8.	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही	पृ० 87
9.	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही	पृ० 40—41
10.	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही	पृ० 42
11.	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही	पृ० 43
12.	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही	पृ० 44
13.	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही	पृ० 44
14.	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही इतिहास और परम्परा	पृ० 73
15.	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही	पृ० 75
16.	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही	पृ० 77
17.	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही	पृ० 78—79
18.	छठवां दशक	विजय देव नारायण साही— साहित्यकार और उसका परिवेश	पृ० 68
19.	लोकतन्त्र की कसौटियाँ	विजय देव नारायण साही— सम्पूर्णक्रान्ति और कौमी एकता	पृ० 28
20.	लोकतन्त्र की कसौटियाँ	विजय देव नारायण साही— सं० क्रान्ति के सा० और सां० पहलू	पृ० 64
21.	वर्धमान और पतनशील	विजय देव नारायण साही— भारतीय काव्य परम्परा में दलितों का योगदान	पृ० 68
22.	लोकतन्त्र की कसौटियाँ	विजय देव नारायण साही— सम्पूर्ण क्रान्ति और कौमीएकता	पृ० 39
23.	साखी (कविता संग्रह)	विजय देव नारायण साही	पृ० 146

24. लोकतन्त्र की कसौटियॉ विजय देव नारायण साही पृ० 39–40
25 लोकतन्त्र की कसौटियॉ विजय देव नारायण साही पृ० 39–40
26. लोकतन्त्र की कसौटियॉ विजय देव नारायण साही पृ० 76
27 लोकतन्त्र की कसौटियॉ विजय देव नारायण साही पृ० 76–77
28. साहित्य क्यों विजय देव नारायण साही पृ० 88
29. साहित्य क्यों विजय देव नारायण साही पृ० 88–89
30 साहित्य क्यों विजय देव नारायण साही पृ० 85
31 साहित्य क्यो विजय देव नारायण साही पृ० 90
32. साहित्य क्यों विजय देव नारायण साही पृ० 90
33. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 134
34. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 135
35. वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 136
36. साहित्य और साहित्यकार का दायित्व विजय देव नारायण साही पृ० 54
37. साहित्य और साहित्यकार का दायित्व विजय देव नारायण साही पृ० 54
38. जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 62
39. जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 64
40. जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 67
41. जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 98
42. जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 98–99
43. जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 103
44. साहित्य क्यों? विजय देव नारायण साही पृ० 55
45. पूर्वग्रह (पत्रिका) सम्पादक रमेशचन्द्र शाह – 'डायरी' पृ० 35
46. साहित्य और सात्यिकार का दायित्व विजय देव नारायण साही पृ० 44
47. अभिप्राय (पत्रिका) सम्पादक राजेन्द्र कुमार पृ० 72
48. संवाद तुमसे (कविता संग्रह) विजय देव नारायण साही पृ० 86

षष्ठम् अध्याय

उपसंहार

'हिन्दी–आलोचना' जिसका इतिहास उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध–भारतेन्दु युग से आरम्भ होता है को परिमार्जित, परिष्कृत करने का कार्य आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। और जिसे अर्थवान बनाने का काम शुक्लोत्तर समीक्षकों–आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्द दुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र के साथ–साथ डॉ० रामविलाश शर्मा ने किया और जिसे नयी भाव–प्रसार भूमि देने का कार्य आज भी डॉ० नामवर सिंह सहित अन्य समीक्षक कर रहे हैं। इसी परम्परा में विजयदेव नारायण साही ने अपने मौलिक चिन्तन जिसका 'फल सच्चे लोहे का है' से हिंदी आलोचना को एक नयी दिशा–दृष्टि देकर 'हिन्दी आलोचना' को अर्थवान बनाने का स्तुत कार्य किया है।

साही के समकालीन दौर में मार्क्सवादी विचारधारा ने 'हिन्दी–आलोचना' को रूढिग्रस्त कर दिया था। साही ने अपनी प्रखर चेतना, तीक्ष्ण तत्वावेषी दृष्टि से 'वाद' ग्रस्त होती हिन्दी आलोचना को एक नयी प्रसार दृष्टि दी। साही ने 'हिन्दी आलोचना' में पहलीबार 'विचारधारा' आधारित मूल्यांकन पर प्रश्न चिन्ह लगाया। साही का मानना था कि 'रूढ़िबद्ध' या किसी विचारधारा से बद्धमूल होकर न तो साहित्य की रचना हो सकती है और न ही उसका समग्र मूल्यांकन हो सकता है, क्योंकि विचारधारा आधारित साहित्य सिर्फ संदेशवाहक साहित्य हो जाता है, जिससे साहित्य का मूल उत्स दब जाता है। इसीलिए साही साहित्य में किसी Ideology की आवश्यकता से इन्कार करते हैं और पूर्वग्रहहीन होकर साहित्य की रचना–आलोचना की वकालत करते हैं।

साही ने न सिर्फ वादग्रस्त आधारित मूल्यांकन का विरोध किया ब्लकि 'आलोचना' के लिए नये मानदण्ड का निर्धारण अपने 'जायसी' सम्बन्धी विवेचन में किया। साही ने अपने मौलिक विचारों से 'जायसी' की उस 'मनोभूमि' को उसके 'तलस्पर्शी तत्वों' के आधार पर समझने–समझाने का प्रयास किया है जो कि जायसी के 'मानुष बैंकुठी' प्रेम का मूल उत्स है। साही ने अपने चिंतन से अपने पूर्व के आलोचकों की संकुचित दृष्टि को व्यापकता प्रदान करते हुए, नये युग बोध से 'जायसी' का मूल्यांकन किया। साही पूर्व हिंदी आलोचना में यह आम धारणा थी कि

'जायसी' सूफी कवि हैं और 'पद्मावत' सूफी काव्य ग्रन्थ। साही ने इसका विरोध करते हुए – इतिहास, परम्परा का मूल्यांकन तर्क और अटकल के आधार पर करते हुए – जायसी को न तो सूफी माना और न ही पद्मावत को सूफी काव्य ग्रन्थ। साही 'जायसी' को एक 'कवि' के रूप में देखते हैं, एक ऐसे कवि के रूप में जिसमें न तो धार्मिक भावना है, और न ही किसी प्रकार की कट्टरता, अगर है तो सिर्फ एक निर्मल–दृष्टि जिससे जायसी 'मनुष्य' को बैंकुंठी प्रेम' में विचरण करता हुआ देखते हैं। यह मनुष्य भी कोई देव तुल्य नहीं है, वह एक आम आदमी है, ऐसा आम आदमी जो जीवन में प्रेम करता है, नफरत करता है, हँसता है, रोता है, बोलता है, दुखी होता है। वह राजा भी होता है, रंक भी, अलाउद्दीन भी होता है, रतनसेन भी। जायसी का महत्व सांस्कृतिक दृष्टि से प्रतिपादित करते हुए साही का मानना है कि जायसी ने अपने 'कवि–विवेक' से समाज के मूल चरित्र को उद्घाटित किया है, बगैर किसी लीपा–पोती के। और इसके लिए जायसी ने अपने समय को, अपने समाज को लिया है। किसी अन्य युग की कल्पना नहीं की है। इस दृष्टि से जायसी अपने समकालीन भक्त कवियों सूर, तुलसी से अधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि सूर–तुलसी ने अपने युग को संदर्भित करने के लिए 'द्वापर–त्रेता' युग की कल्पना की है।

साही ने साहित्यकार को चार चेतनाओं से युक्त माना है। ये चार चेतनायें हैं :– वैश्विक, सामाजिक, पारिवारिक, मानवीय। इन सभी चारों चेतनाओं से युक्त साहित्य ही साही के लिए सत्साहित्य है। इसमें किसी एक ही चेतना से युक्त साहित्यकार की दिशा–दशा भिन्न हो जाती है। वादग्रस्त हिन्दी आलोचना के जिस दौर में साही का प्रवेश होता है, उस दौर में तमाम प्राचीन साहित्यकारों को कठघरे में खडा करने का चलन था। 'मार्क्सवादी समीक्षा' में यह तत्व अधिक था। साही ने 'मार्क्सवादी' समीक्षा की मूल–भूत कमजोरियों को उजागर कर उसके मूल्यांकन के मानदण्डों पर प्रश्न चिन्ह लगाया। साही का मानना है कि साहित्य का उद्देश्य 'मनुष्य चेतना' को जगाना है किसी विचार धारा का संवाहक बनाना नहीं। बार–बार मार्क्सवादी समीक्षा को कठघरे में खड़ा कर साही ने चुनौती के स्वर में कहा कि कोई भी मार्क्सवादी विचारक अपने अतीत के इतिहास में डुबकी नहीं लगाना

चाहता, साहित्य का इतिहास नहीं लिखना चाहता, सिर्फ छोटे–छोटे लेख लिख कर ही वह अपना इति सिद्धम करता है।

किसी भी युग की 'भाषा' का सन्दर्भ उस युग की युगीन परिस्थितियों से जुड़ा होता है, और साहित्यकार ही उसे युग के दबाव से मुक्त करता है। 'काव्यभाषा' को लेकर साही ने न सिर्फ 'हिन्दी–अंग्रेजी' की समस्या को विवेचित किया है बल्कि भक्तिकालीन हिन्दी जनमानस के मूलभावों को भी पकड़ने की कोशिश की है। साही का मानना है कि मध्यकाल के कवियों ने राज–भाषा से इतर जनभाषा में जो रचना प्रस्तुत की उसका महत्व सिर्फ इस दृष्टि से नहीं है कि वे लोकभाषा को महत्व दे रहे थे बल्कि इस दृष्टि से भी वे महत्वपूर्ण हैं कि उन्होंने राजनीति के दबाव से अपने को मुक्त कर आम जनता की बात आम जनता की बोली में कही और यह किसी भी युग के लिए यह एक आदर्श है।

साही ने रीतिकालीन कविता को 'हिन्दी आलोचना' को उस चौहद्दी से बाहर निकला जिसमें इसे सिर्फ 'काम–कला', 'पर–स्त्रीगमन' की कविता माना जाता रहा है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से रीतिकालीन कवियों को भाषायी दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हुए साही ने रीतिकालीन कविता की भाषा को राष्ट्रीय संन्दर्भ से महत्वपूर्ण माना। साही का मानना है कि इस काल के कवियों ने कम से कम सतारा से काश्मीर तक के हिंदी भाषी जनता के दिल को एक ही भाषा में धड़काया। भक्तिकालीन कविता को सामाजिक सन्दर्भों से महत्वपूर्ण मानते हुए भी साही नें भाषा के विविध स्तरों के कारण इसे रीतिकाल की अपेक्षा कम महत्व दिया और रीति कालीन कविता को उस पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार किया जिसको आगे चलकर भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बनारस के प्रसाद, बैसवाड़े के निराला और लमही के प्रेमचन्द ने अग्रसारित किया। रीतिकालीन ब्रजभाषा की तरह आधुनिक युग में खड़ी बोली का महत्व साही इसी दृष्टि से स्वीकार करते हैं कि उसने सम्पूर्ण भारत को एक करने का प्रयास किया है।

'हिन्दी–उर्दू' की आधुनिक समस्या को लेकर साही ने जो 'उधेड़–बुन' की है, उसमे उन्होंने स्वीकार किया है कि 'भाषा' के विवाद से देश की आन्तरिक लय

खंडित होती है। इसीलिए साही जोर देते हैं कि उर्दू को या तो ब्रज भाषा की तरह सूख जाने देना चाहिए या उर्दू को अपने मूल चरित्र में बदलाव करना चाहिए। उर्दू के सूखने का तर्क साही इसलिए देते हैं कि उर्दू कविता में उसी नफीस, बनावटीपन की झलक मिलती है जैसी ब्रजभाषा में थी और जिसके चलते ही ब्रजभाषा कमजोर हो गयी।

नफीस और बनावटी भाषा का विरोध साही सिर्फ उर्दू या ब्रज भाषा के सन्दर्भ मे ही नहीं करते, बल्कि इसे 'खडी बोली' हिन्दी के लिए भी हानिप्रद मानते हैं। 'छविमयता' और 'सिलवटों की भाषा' जो कि आंचलिक साहित्य का मूल भाषायी चरित्र होता है का विरोध साही ने इसीलिए किया है।

'आंचलिकता' का सन्दर्भ साही के लिए सिर्फ ग्राम्यांचल ही नहीं है बल्कि इसे वह इतिहास के अंचल में, महानगरीय अंचल में भी देखते हैं। इसीलिए उन्होंने हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'वाणभट्ट की आत्मकथा' तथा अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' को आंचलिक उपन्यास स्वीकार किया। कथा–समीक्षा के सन्दर्भ से साही की एक महत्वपूर्ण अवधारणा यह थी की कि 'कथा–समीक्षक' को उपन्यास की कसौटी पर चढ़ना आवश्यक है, सिर्फ कहानी की समीक्षा से कोई कथा–समीक्षक नहीं हो सकता। दरअसल साही आलोचक से अपेक्षा करते थे कि वह रचना के माध्यम से पूरे युग को सन्दर्भित करे, चूंकि कहानी का फलक छोटा होता है इसलिए साही इसे इतना महत्व नहीं देते जितना व्यापक फलक के उपन्यास को और इसीलिए 'आचंलिक साहित्य' का भी विरोध करते हैं क्योंकि 'आंचलिकता' एक विशेष सन्दर्भ को ही उभारती है।

'लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' में साही ने पूरे युग को ही परिभाषित करने का सफल प्रयास किया है। समग्रतावादी आलोचक साही का मानना है कि साहित्यिक युग का संबंध राजनीतिक युग से बराबर बना रहता है। इसी दृष्टि से साही ने गांधी का सम्बन्ध छायावाद से और नेहरू का सम्बन्ध उत्तर छायावाद से माना है। साही का स्पष्ट मानना है कि समाज में व्यापक परिवर्तन राजनीति ही कर सकती है, साहित्य नहीं। यद्यपि राजनीतिक व्यक्तित्व छोटे–छोटे

गोल रखता है लेकिन साहित्य मनुष्य की चेतना को विकसित कर उसके अन्तःकरण को शुद्ध करने का प्रयास करता है इसीलिए साहित्य का महत्व राजनीति से अधिक है।

विविध व्यक्तित्व के धनी साही न सिर्फ एक साहित्यकार थे बल्कि एक राजनीतिक कार्यकर्ता भी थे। साही ने साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध को बिना किसी घाल–मेल के, बिना किसी लाग–लपेट के, नैतिक विवेक से, स्वानुभूति के आधार पर विश्लेषित किया है और साहित्य को राजनीति से बचाने का उपक्रम किया है क्योंकि राजनीति में कविता के प्रवेश से राजनीति का तो कुछ बिगड़ता नही अलबत्ता कविता की प्रसार–भूमि बाधित हो जाती है।

साही ने बार–बार व्यक्ति की चेतना और धर्म निरपेक्ष संस्कृति को महत्व दिया है। इस दृष्टि से साही हजारी प्रसाद द्विवेदी के अधिक निकट लगते हैं। द्विवेदीजी ने भी मनुष्य की कविता की वकालत बार–बार की थी और इसे कबीर में खोजा। साही ने भी यही बात बार–बार उठायी, यद्यपि इसे वे 'जायसी' में खोजते है। धर्मनिरपेक्ष साहित्य की वकालत से साही ने 'हिदी आलोचना' को समृद्ध कर द्विवेजी जी की परम्परा को आगे बढाने का स्तुत कार्य किया है।

साही ने 'व्यक्ति–चेतना' को महत्व देकर मार्क्सवादीयों के कठ मुल्लापन पर प्रहार तो किया ही साथ ही साहित्य को मनुष्य–नाभीय दृष्टि से विश्लेषित कर एक नये मानदण्ड को विकसित भी किया।

अपने विवेचन में साही न सिर्फ तथ्यों को आधार बनाते हैं बल्कि आधुनिक सन्दर्भ से भूत के बारे में अटकल भी लगाते हैं। वस्तुतः साही अपने चिंतन में वर्तमान को भूत–भविष्य में फैलाते हैं एक तर्कशील अटकल बाज की तरह। वैसे 'अटकल' कोई वैज्ञानिक मानदण्ड नहीं हो सकता। लेकिन एक साहित्यकार होने के नाते साही ने वर्तमान की खिड़की से भूत–भविष्य का फैलाव देखा है। इसी फैलाव में जायसी के सन्दर्भ में उन्हें, फिरदौसी, अमीर खुसरो मिलते हैं तो निराला भी, प्रेमचन्द्र के सन्दर्भ में कालिदास मिलते हैं तो शरतचन्द्र भी। साहित्य को सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक दृष्टि से देखने वाले साही ने काल के वर्तमान को

भूत–भविष्य में फैलाया है। इस दृष्टि से साही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से भिन्न जान पडते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल वर्तमान को भूत में पर्यवसति कर देते हैं, साही वर्तमान को भूत तक फैलाते हैं।

साही ने अपने चिन्तन से पूर्व प्रतिष्ठित हिन्दी आलोचना को नव विचार–भूमि से विकासमान किया। साथ ही अपने मौलिक चिन्तन से हिन्दी आलोचना को एक नयी–भाव प्रसार भूमि पर प्रतिष्ठित भी किया, जिस में न तो कोई रूढ़िबद्ध विचार धारा है और न ही कोई पूर्वाग्रह, अगर है तो सिर्फ एक मनुष्य–चेतना दृष्टि, और भारत–बिम्ब। कुल मिलाकर साही की आलोचना का महत्व आज भी है न सिर्फ विचार के स्तर पर बल्कि भाव–बोध के स्तर पर भी। इसीलिए साही की आलोचना 'फूल मरै पर मरै न बासू' की आलोचना है। अन्ततः साही की आलोचना के बारे में यही कहा जा सकता है किः–

लाख चाँदनियों, लाख बरसातों, लाख हवाओं
से धीरे–धीरे चिकना होता है।
संगमरमर
छूकर देखो।
यह ठण्डा स्पर्श तुम्हारे हाथों में फफोले छोड़ जायेगा।

(साखी)

परिशिष्ट

परिशिष्ट ख

सन्दर्भ ग्रंथ

1.	अन्तरा	अज्ञेय	राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली प्रथम सं० 1975
2.	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना	राम विलाश शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम सं० 1973
3	आधुनिक आधुनिक भारत का इतिहास	सं० राम लखन शुक्ल	हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय नई दिल्ली पुर्न प्रकाशन 1993
4.	आधुनिक साहित्य	नन्द दुलारे वाजपेयी	भारती भंडार इलाहाबाद स०, 2088 वि०
5.	आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियॉ	नामवर सिंह	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद नवीन सं० 1997
6.	आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास	बच्चन सिंह	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद संशोधित सं० 1997
7.	आज का हिंदी साहित्य	प्रकाश चन्द्र गुप्त	नेशनल पब्लिसिंग हाउस दिल्ली प्रथम सं० 1966
8.	आधुनिक हिंदी साहित्य	अज्ञेय	राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली प्रथम सं० 1976
9.	आधुनिक हिन्दी आलोचना : सन्दर्भ और दृष्टि	राम चन्द्र तिवारी	विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी प्रथम सं० 1997
10.	आस्था के चरण	नगेन्द्र	नेशनल पब्लिसिंग हाउस, दिल्ली प्रथम सं० 1968
11.	इतिहास और आलोचना	नामवर सिंह	राजकमल प्रकाशन तृतीय सं० 1978
12.	इतिहास चक्र	राम मनोहर लोहिया	लोक भारती प्रकाशन सप्तम सं० 1998
13.	एक साहित्यिक	मुक्तिबोध	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

	की डायरी		दिल्ली आठवां सं० 1998
14	कबीर	हजारी प्रसाद द्विवेदी	राजकमल प्रकाशन पुर्नमुद्रित 1997
15.	कामायनी	जयशंकर प्रसाद	लोक भारती प्रकाशन छात्र सं० 1998
16	कामायनी एक पुनर्विचार	मुक्तिबोध	राजकमल प्रकाशन दिल्ली प्रथम सं० 1961
17.	कामायनी का पुर्नमूल्यांकन	राम स्वरूप चतुर्वेदी	लोक भारती प्रकाशन इला० चतुर्थ सं० 1997
18.	कविता के नये प्रतिमान	नामवर सिंह	राजकमल प्रकाशन दिल्ली तृतीय सं० 1982
19.	कविता का पक्ष	रामस्वरूप चतुर्वेदी	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम सं० 1994
20	कहानी : नई कहानी	नामवर सिंह	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद सं० 1996
21.	गुप्त निबन्धावली	स० श्री झाबरमल्ल शर्मा, बनारसी दास चतुर्वेदी	गुप्त स्मारक ग्रन्थ स्मारक ग्रन्थ प्रकाशन समिति कलकत्ता प्रथम सं० 2006 वि०
22.	गोस्वामी तुलसीदास	रामचन्द्र शुक्ल	काशी नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी चतुर्दश सं० 2053 वि०
23.	चिन्तामणि भाग–2	रामचन्द्र शुक्ल	नागरी प्राचारिणी सभा वाराणसी चतुर्थ सं० सम्वत 2053 वि०
24.	छायावाद	नामवर सिंह	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली पचम सं० पुर्नमुद्रित 1997
25.	छायावाद का पतन	डा० देवराज	वाणी मंदिर प्रेस छपरा प्रथम सं० 1948
26.	जायसी ग्रन्थावली	रामचन्द्र शुक्ल	नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी 18वां सं० सम्वत 2052 वि०
27.	जायसी	रामपूजन तिवारी	राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली प्रथम सं० 1965
28.	तारसप्तक	स० अज्ञेय	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली सातवां पेपर बैक सं० 1998

29.	तीसरा सप्तक	स० अज्ञेय	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली छठवा सं० 1996
30.	त्रिवेणी	रामचन्द्र शुक्ल	नागरी प्राचारिणी सभा वाराणसी पचासवां सं० 2054 वि०
31.	दूसरा सप्तक	सं० अज्ञेय	भारतीय ज्ञानपीठ प्राकशन नई दिल्ली पहला पेपर बैक 1999
32	दूसरी परम्परा की खोज	नामवर सिंह	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली सं० 1994
33.	देव और बिहारी	कृष्ण बिहारी मिश्र	गंगा पुस्तकमाला कार्यालय लखनऊ चौथी बार 1965
34.	नया साहित्य : नये प्रश्न	नन्द दुलारे वाजपेयी	विद्यामंदिर ब्रह्मनाल बनारस
35.	निराला की साहित्य साधना–1	राम विलाश शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली तृतीय सं० 1979
36.	निराला की साहित्य साधना–2	राम विलाश शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम सं० 1972
37.	निराला की साहित्य साधना–3	राम विलाश शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम सं० 1976
38.	नयी कविता और अस्तिववाद	राम विलाश शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली पहला छात्र सं० 1993
39.	नयी कविता के प्रतिमान	लक्ष्मी कान्त वर्मा	भारती प्रेस प्रकाशन दरभंगा रोड इलाहाबाद।
40.	नयी कविता का आत्म संघर्ष और अन्य निबन्ध	मुक्तिबोध	विश्वभारती प्रकाशन नागपुर द्वितीय सं० 1977
41.	नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र	मुक्तिबोध	राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली दूसरा सं० 1993
42.	नये प्रतिमान : पुराने निकष	लक्ष्मी कान्त वर्मा	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन कलकत्ता प्रथम सं० 1966
43.	प्रेमधन सर्वस्व भाग–2	सं० प्रभाकतेश्वर प्रसाद उपाध्याय	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रथमावृत्त सं० 2007 विक्रम
44.	पद्म सिंह शर्मा के पत्र	सं० बनारसी दास चतुर्वेदी, हरि शंकर शर्मा	आत्मा राम एण्ड सन्स दिल्ली 1956

45.	पद्म पराग प्रथम भाग	सं० पारस नाथ सिंह	भारती पब्लिशर्स पटना प्रथम संस्करण 1986 विक्रम
46.	पल्लव	सुमित्रा नन्दन पंत	राजकमल प्रकाश नई दिल्ली नौवां संस्करण 1993
47.	प्रतिक्रियाएँ	डॉ० देवराज	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम संस्करण 1966
48	प्रेमचन्द्र और उनका युग	राम विलाश शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली पांचवा परिवर्तित संस्करण 1989
49.	परम्परा का मूल्यांकन	राम विलाश शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम सं० 1981
50	पद्मावत	वासुदेव शरण अग्रवाल	साहित्य सदन चिरगाँव झाँसी विद्यार्थी सं० 2042 विक्रम
51.	पंत –प्रसाद मैथिली शरण गुप्त	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल पटना 1958
52.	बिहारी सतसई : तुलनात्मक अध्ययन	पद्म सिंह शर्मा	ज्ञानदीप प्रकाशन दिल्ली पंचम संस्करण 1967
53.	बिहारी और देव	लाल भगवानदीन	प्रकाशक और प्रकाशन वर्ष उल्लेख नहीं है।
54.	बिहारी की वाग् विभूति	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	हिन्दी साहित्य कुटीर बनारस
55.	भवन्ती	अज्ञेय	राजपाल एण्ड सन्स प्रथम सं०1972
56.	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रन्थावली पहला भाग	सं० ब्रजरत्न दास	काशी नागरी प्रचारिणी सभा प्रथम संस्करण सं0 2007 वि०
57.	मतिराम ग्रन्थावली	कृष्ण बिहारी मिश्र	गंगा पुस्तक माला कार्यालय लखनऊ प्रथम सं० स0 1983 वि०
58.	मानव मूल्य और साहित्य	धर्मवीर भारती	भारतीय ज्ञानपीठ काशी 1960
59.	मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य	राम विलाश शर्मा	वाणी प्रकाश नई दिल्ली प्रथम सं० 1984

60.	महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण	राम विलाश शर्मा	राज कमल प्रकाशन दिल्ली प्रथम सं० 1977
61	रसज्ञ–रंजन	महावीर प्रसाद द्विवेदी	साहित्य रत्न भण्डार आगरा चतुर्थ सं० 1939
62	रस–मीमांसा	रामचन्द्र शुक्ल	काशी नागरी प्रचारिणी सभा चतुर्थ सं० स0 2023 वि०
63	रस–सिद्धान्त	नगेन्द्र	नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली प्रथम सं०
64	लिखि कागद कोरे	अज्ञेय	राजपाल एण्ड संन्स दिल्ली पहला सं० 1972
65.	लोहिया	ओंकार शरद	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद चौदहवां सं0 1993
66.	विश्व–प्रपंच	रामचन्द्र शुक्ल	नागरी प्रचारिण सभा वाराणसी
67	विचार विमर्श	महावीर प्रसाद द्विवेदी	इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग 1931
68.	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र –वाङ्मय विमर्श – वाणी प्रकाशन नई दिल्ली		
69.	सूरदास	सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी दसवा सं० स0 2050 वि०
70.	सूर साहित्य	हजारी प्रसाद द्विवेदी	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर लि० बम्बई स०स०1956
71.	सूफीमत	कन्हैया सिंह	लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1998
72.	सामयिकी	शांतिप्रिय द्विवेदी	ज्ञान मण्डल लि० काशी सं० 2001 वि०
73	सुमित्रा नन्दन पन्त	नगेन्द्र	साहित्य रत्न भण्डार आगरा अष्टम सं०सम्वत 2014 वि०
74.	साहित्य–चिन्ता	डॉ० देवराज	गौतम बुक डिपो 1950
75.	साहित्य की समस्याएँ	शिवदान सिंह चौहान	आत्मा राम एण्ड संन्स दिल्ली 1959
76.	साहित्य का नया शास्त्र	गिरिजा राय	शालिनी प्रकाशन इलाहाबाद सं० 2000
77.	साहित्य का नया	रघुवंश	भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रथम

	परिप्रेक्ष्य		सं० 1963
78	समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता	रघुवंश	केन्द्रीय हिंदी संस्थान आगरा प्रथम सं०1972
79	संक्षिप्त साहित्यालाप	महावीर प्रसाद द्विवेदी	खड् विलास प्रेस बांकीपुर
80	संचयन	सं० प्रभात शास्त्री	साहित्यकार संघ प्रयाग
81	साहित्य सन्दर्भ	महावीर प्रसाद द्विवेदी	गंगा पुस्तक माला लखनऊ सं० 1985 वि०
82.	सर्जक और भाषिक संरचना	राम स्वरूप चतुर्वेदी	लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम सं० 1980
83	सर्जना और सन्दर्भ	अज्ञेय	नेशनल पब्लिसिंग हाउस नई दिल्ली प्रथम सं० 1985
84.	साहित्यालोचन	बाबू श्याम सुन्दर दास	नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी 13वां संस्करण 1959
85.	हिन्दी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ	रामदरश मिश्र	मैकमिलन कंपनी आफ इण्डिया लिमिटेड 1974
86.	हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा	राम आधार शर्मा	अनुसंधान प्रकाशन आचार्यनगर कानपुर
87.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल	नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी सम्वत 2055 वि०
88	हिंदी आलोचना	विश्वनाथ त्रिपाठी	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली छात्र सं० 1995
89.	हिन्दी आलोचना की बीसवी सदी	निर्मला जैन	राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम सं० 1992
90	हिन्दी आलोचना : शिखरों से साक्षात्कार	रामचन्द्र तिवारी	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद द्वितीय संस्करण 2000
91.	हिन्दी आलोचना: उद्भव और विकास	भगवत स्वरूप मिश्र	साहित्य सदन देहरादून 1954
92.	हिन्दी आलोचना : अतीत और वर्तमान	प्रभाकर माचवे	हिन्दुस्तानी ऐकडमी इलाहाबाद प्रथम सं० 1988

93	हिन्दी आलोचना का विकास	नन्द किशोर नवल	राज कमल प्रकाशन नई दिल्ली पहली आवृत्ति 2000
94.	हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास	हजारी प्रसाद द्विवेदी	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली छंठा सं० पुर्न०1995
95	हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी	नन्द दुलारे वाजपेयी	लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद विद्यार्थी संस्करण 1995
96.	हिन्दी नवरत्न	मिश्र बन्धु	गंगा पुस्तक माला कार्यालय लखनऊ प्रथम सं० 1983 वि०संम्वत
97	हिन्दी साहित्य की भूमिका	हजारी प्रसाद द्विवेदी	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली सं० 1998
98	हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा	प्रकाशचन्द्र गुप्त	किताब महल इलाहाबाद प्रथम सं०1953
99	हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग	नामवर सिंह	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद संस्करण 1993
100.	हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास	रामस्वरूप चतुर्वेदी	लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद 11वां सं० 1999

परिशिष्ट ग

कोश ग्रन्थ

1 हिन्दी साहित्य कोश भाग–1, सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा एवं अन्य, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी तृतीय संस्करण 1985

2. हिन्दी साहित्य कोश भाग–2, सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा एवं अन्य, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी द्वितीय संस्करण 1986

3. हिन्दी आलोचना कोश सम्पादक यशपाल महाजन – भारती ग्रन्थ निकेतन, नई दिल्ली 1978

परिशिष्ट घ

पत्र–पत्रिकाएं

1 अभिप्राय

2. आलोचना

3 आनन्द कादम्बिनी

4. श्री शारदा

5 क, ख, ग

6 दस्तावेज

7 दिनमान

8. नई कविता

9 नागरी प्रचारिणी पत्रिका

10. निकष

11 पूर्वग्रह

12 ब्राह्मण

13 माध्यम

14. लक्ष्मी

15 विकल्प

16 वर्तमान साहित्य

17. वसुधा

18 समालोचक

19. सरस्वती

20. सम्मेलन पत्रिका

21. हंस

22 हरिश्चन्द्र मैगजीन

23. हिन्दी अनुशीलन

24 हिन्दी प्रदीप